

915

ा पता

ाजी

ी



अध्यात्मविकास

लेखक
स्वामी रामानंद
एम.ए.

(जीवन तथा उसकी समस्याओं पर एक दृष्टिपात)

मूल्य ४ रु.

—: प्रकाशक :—
शा. पां हलदुले
राजहंस प्रकाशन,
५६४ शनवार पेठ, पुणें २.

—: मुद्रक :—
नारायण बळवंत चव्हांण
हरिहर प्रेस,
४८३ शनवार पेठ, पुणें २.

अक्तूबर १९४६.

एकमेव विक्रेता
बाबूराव कुमठेकर, युगधर्म प्रकाशन
"श्रीधर निवास" ६९३ बुधवार, पुणें २.

प्रकाशक की ओरसे

सबसे प्रथम हमें लज्जाके साथ यह कहना होगा कि हम निश्चित समय पर पू० स्वामीजीकी किताब "साधक परिवार" की सेवामें प्रेषित नहीं कर सके। हम परिवारसे प्रार्थना करते हैं हमें क्षमा करें!

उन सब साथियों को जिन्होंने पुस्तकका सौंदर्य बढ़ाने में हमारी सहायता की, सस्नेह हार्दिक धन्यवाद देते हुए हिंदी संसारसे प्रार्थना करते हैं वह अपनी उदारता और सौहार्दसे हमें प्रोत्साहित करें।

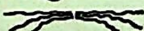
भगवानसे प्रार्थना है वह अपने समाज की अधिक से अधिक सेवा करनेकी बुद्धि और शक्ति दें।

जय हिन्द.

पुणें
गांधीजयंति
२ अक्टूबर १९४६

प्रकाशक

विषयानुक्रमणिका



व
६३६

परिशिष्ट

———



भूमिका

इन प्रसंगों को पाठकों के हाथ में रखने से पूर्व कुछ बातें कहनी आवश्यक हैं।

शास्त्र तथा धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली प्रचलित विचार-धारा परलोक का, मृत्यु का, पाप का और न जाने किस किस का भय दिखा कर मनुष्य को भगवान् तथा धर्म की ओर प्रवृत्त करने की चेष्टा करती है। ऐसी हालत में कुछ लोग एकदम बग़ावत करते हैं और नास्तिक हो जाते हैं, और कुछ इस को स्वीकार करते हैं, पापभीरु बन जाते हैं और कुछ तो जीवन–भीरु भी। जीवन एक पाप–परम्परा दीखने लगती है। यह दोनों प्रतिक्रियाएँ समाज के व्यक्तियों पर अवांच्छनीय प्रभाव डालती हैं। व्यक्तित्व का सौम्य विकास तो विरोध तथा भय से रहित होने पर ही सम्भव है। हिन्दु–समाज में तो इस वैषम्य के लक्षण स्पष्ट दीखते ही हैं, परन्तु अन्यत्र भी इन का अभाव नहीं।

धर्म यदि व्यक्ति को भीरु बनाता है, अथवा किसी प्रकार से व्यक्ति के विकास में बाधक होता है तो मेरी समझ में तो वह धर्म नहीं। मुझे तो ऐसा धर्म अग्राह्य

ही दीखता है। धर्म तो व्यक्ति के सर्वतोमुखी कल्याण का सर्वोत्तम हेतु होना चाहिये।

जीवन एक पहेली है। मनुष्य मनुष्य होने के नाते उस पर विचार करता है और अपनी मति के अनुकूल ही। जो सोचता है उसका एक दृष्टिकोण बन जाना स्वाभाविक ही है। ये प्रसंग इसी प्रकार से बने हुए दृष्टिकोण से जीवन को देखने का प्रयत्न हैं। मेरा अध्ययन तथा आन्तरिक अनुभूति आध्यात्मिक साधन के क्षेत्र में, इस दृष्टिकोण के लिये उत्तर-दायी हैं। इस दृष्टिकोण की उपादेयता को मैंने अपने जीवन में भी अनुभव किया है। आन्तरिक उद्वेगों तथा व्यावहारिक जीवन की विषमताओं को समझने तथा दूर करने में यह बहुत दूर तक सहायक हो सकता है इस में सन्देह नहीं। आध्यात्मिक साधन के क्षेत्र में तो यह विशेष सहायक हो ही सकता है। व्यक्तित्व के सौम्य विकास के लिये यह दृष्टि-कोण कितना उपयोगी होगा, पाठकों की अनुभूति ही बता पायगी।

प्रचलित विचार-धारा से यह विचार-धारा अनेक स्थलों पर टक्कर लेती है। हिंदुशास्त्रों की आमूलचूल प्रामा-णिकता के आगे मेरा सिर नहीं झुक सकता और न किसी दूसरे ग्रन्थ के इस प्रकार के दावे के सामने। भौतिक विज्ञान-अतिभौतिक (सूक्ष्म) विज्ञान, बुद्धि तथा अनुभव सभी को

एकदम प्रमाणवाद के समक्ष ठुकराया नहीं जा सकता। वास्तव में विरोध भीं तो बहुत अंशतक दीखने मात्र का है। प्रधानतया दृष्टि–कोण का ही है।

प्रत्येक व्यक्ति की समझ अपनी होनी ही चाहिए। इसी प्रकार से इन प्रसंगों का काम विचारशक्ति को जागृत करना और रास्ता दिखाना मात्र है। अपनी समस्याएँ पाठकों को स्वयं सुलझानी होंगी। इसी लिये इन प्रसंगों को दार्शनिक जटिलताओं से यथासम्भव दूर रखा गया है, और विषयों की पेचीदगियों का निर्णय करने का यत्न नहीं किया गया: यह सुझाव हैं और उनसे आगे चलना पाठकों का काम है।

प्रसंगों का क्रम विचारधारा का क्रम है। अतः कई पूर्वके प्रसंगों की बातें आगे जा कर स्पष्ट होती हैं। यही स्वाभाविक क्रम मनुष्य के विचारों के विकास का भी होता है, इसी को यहा अपनाया गया है।

आनन्द कुटीर,
पेटसाल, अल्मोड़ा।
२९–९–४५

रामानन्द ब्रह्मचारी।

लेखक का अल्पसा परिचय

विशुद्ध प्रेम, निस्वार्थ सेवा, सतत प्रगतिप्रियता यह लेखक के जीवन-व्यवहारकी त्रिसूत्री है और अपने साथियोंका पथ प्रदर्शन करने कागज और कलम, भजन के लिये करताल, सेवा-साधनके रूपमें बायोकेमिक औषधियाँ, कमंडलु, तकली और कपास, तथा पहनने के लिये एकाध कपडा यह है लेखककी भौतिक संपत्ति! हाँ, कभी कभी एकाध जीवनशास्त्र का विवेचन करनेवाली पुस्तक भी।

यह सब साहित्य एक थैलीमें डालकर युक्त प्रान्त में सतत संचार करनेवाले इस पुस्तक के लेखकका जन्म सामाजिक दृष्टि से मध्यम कोटि के एक पंजाबी खत्री परिवारमें हुआ था! लेखकका जन्म युक्त प्रान्तमें झांसी के पास ललितपुरमें हुआ था; क्यों कि आपके पिताजी अपने निजी परिवारके साथ अपने कारोबारके सिलसिलेमें वहां रहते थे। आपका शैशव भी वहीं बीता है।

लेखकके दादाजीको, जो अत्यन्त ईमानदार और सादा थे, आर्यसमाजी होने के नाते उन दिनों सामाजिक बहिष्कारका मुकाबला करना पडा था। आप मुन्सिफ थे और आपकी ईमानदारीके कई किस्से लेखकने बचपनमें ही सुन रखे थे।

चूंकि बचपनमें ही आपकी माताजीकी मृत्यु हुई, जब कि आपकी उम्र ढाई सालकी थी आपकी बडी बहन, जिसकी उम्र करीब ग्यारह बारह सालकी थी, तथा पिताजी ने आपकी पर-

वरिश की। मातृ–वियोग का बालमन पर गहरा प्रभाव पडा और पिताजी के लाडले बने। पिताजीकी गैरहाज़री आपके रोने का सब से बड़ा कारण होता था और "पिताजी तुम्हें छोडकर जाएंगे" कहना आपको सताने तथा खिजानेका सबसे महान साधन !

बचपनमें औरोंके साथ खेलते करते कम थे, मगर कहानी सुनने सुनानेका बडा चस्का रहता था। बचपनमें ही गांभीर्य, जिज्ञासा, वेदनाशीलता, तथा पिताजीकी वियोग–व्यथा अस्वाभाविक और असाधारण थी।

खैर, आप किसी तरह स्कूलमें भर्ती किये गये। प्रथम हिन्दी, फिर उर्दूका, ज्ञान हुआ। किताबोंके संयोगसे पिताजीका वियोग भूलने लगें। बालकों के संपर्कसे क्रीडा-प्रियता भी पनपने लगी। अपनी तेज़ बुद्धिकी वजहसे कक्षाके नायक बने।

इसी अर्सेमें पिताजी अपने परिवारमें आये और आपको भी परिवार मिला। मगर साल भरके बाद सीखनेके लिये बड़े भाई के पास रखे गये। वहीं से आपके जीवन-विकासका प्रारंभ होता है। भाईके सूक्ष्म और उदात्त विचार और भाभी के विशुद्ध अनुपम प्रेमसे आपकी जीवनकली खिलने लगी।

शिक्षामें आप सदैव सर्वप्रथम रहे हैं। शायद ही कभी दूसरे आये हैं। फलस्वरूप, पांचवे दर्जेसे एम्, ए तक वजीफा पाते आये हैं। इसी लिये सदैव शिक्षकोंके स्नेह और सहपाठियोंके आदरपात्र रहे हैं।

बचपनसे ही बडे आदर्श-वादी रहे हैं। हायस्कूल तक आपने अपने कोर्स के अलावा अन्य खूब किताबें पढ़ रखी थीं और

चूंकि " फर्स्ट इन् ऑल " थे, पारितोषकके रूपमें भी काफी किताबें मिलती थीं। सामान्यतया आपकी शिक्षा आर्यसमाजी संस्थाओंमें हुई और सामान्यतया आपका आदर्श वही रहा जो आर्यसमाजका है। स्वामी दयानंदजी के जीवनका उन दिनों आप पर गहरा प्रभाव पडा।

हायस्कूलकी ऊँची कक्षाओंमें गान्धी साहित्यका अध्ययन होने लगा और उसके प्रभावमें आये मगर कॉलेज जीवनमें परिवर्तन करनेवाले अनेक प्रसंग आये और तेजीसे बदलते भी रहे; वहीं आत्म—चेतनाकी जागृती हुई। अपने दोषोंका भान हुआ और उसको सुधारनेका प्रयत्न भी।

ईश्वरविषयक अध्ययन, चिन्तन, मननसे कुछ समय तक आप पक्के नास्तिक हुए, साथ हठयोगमें रस पैदा हुआ और आसन प्राणायामादि करने लगे। इस प्रकार नित्य नूतन परि-वर्तन होने लगा; साथ व्याकुलता बढी।

इन्टरकी परीक्षामें आप सारे पंजाबमें सर्व प्रथम आये; इन बातोंसे परिवारवालोंकी आकांक्षा बढ़ना स्वाभाविक था। वह अपने बेटेको बडा सरकारी अफसर बना हुआ देखना चाहते थे। मगर यहां और ही चिनगारी पड़ चुकी थी। पठन, मनन, तथा चिन्तनकी फूंक उसको ज्वालाके रूपमें बदलती रही। यहांसे पारिवारिक संघर्षका प्रारंभ होता है। एक तरफ आंतरिक प्रेरणाके विरुद्ध कदम बढ़ाना मौतसे भी दुःसह था; दूसरी ओर परिवारवालोंका स्नेह ऐसा करने के लिये मजबूर कर रहा था।

घरवालोंने सिव्हिल सर्व्हिसका दरवाजा खोलने डी. ए. वी. कॉलजसे नाम कटवाकर सरकारी कॉलेजमें भरती करवाया। सादे, सरल, अकृत्रिम वायुमंडलसे तड़क भडक और विलासितासे भरे वायुमंडलमें आ पडे। आंतरिक संघर्ष शुरू हुआ आघात प्रत्याघात होने लगे। भावी प्रतिक्रियाकी नींव पड़ी।

इसी अर्सेमें स्वामी विवेकानन्दजीकी पुस्तकोंका अध्ययन शुरू हुआ। मस्तिष्कमें घिरनेवाले बादल साफ होने लगे। संकल्प-शक्ति बढ़ने लगी। पूर्वसंस्कार जागृत हुए; प्राप्तव्यका भान होने लगा। नास्तिकता के खादसे आस्तिकता पनपने लगी। जीवननिर्माण और सेवाका क्षेत्र खुला; दर्शन तथा अध्यात्म-शास्त्रका अध्ययन शुरू हुआ।

बी. ए. में दर्शनशास्त्र लेकर सिव्हिल सर्व्हिसका दरवाजा बन्द किया, जो सरकारी कॉलेजमें आनेसे खुला था। साथ साथ अंग्रेजी और संस्कृत भी लिया था। दर्शन-शास्त्र चूंकि मनभाया विषय था, विना प्रयासके होने लगा; अन्य समय आध्यात्मिक साधना भी होने लगी। कहींसे प्राणायाम तो कहींसे ध्यान धारणा सीखे। इच्छाके अनुकूल मित्र और पथप्रदर्शक मिलते गये। ग्रन्थ भी मिले। जहाँ चाह है वहाँ राह निकल आई।

उस समयसे जब आप इंटरमें थे, चरित्र निर्माणकी ओर ध्यान दे रहे थे। विचार आचारमें बदलने लगे। फूलका दर्प फलके मीठे रसमें परिवर्तित होने लगा। आन्तरिक अनुभूतियां जागीं। 'भगवानने मुझे अपना लिया है' ऐसा विश्वास हुआ। इन सबका मस्तिष्क पर जोर पडा। सामान्य अध्ययन

भी असंभवसा हुआ; यहाँ इस समय पथप्रदर्शककी आवश्यकता थी और स्वामी सत्यानन्दजी महाराजके संपर्कमें आए। इसी संपर्कने भविष्यकी बुनियाद डाली।

आप कभी अपनी आंतरिक प्रेरणाके विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकते थे। भेदजन्य बुद्धि बौद्धिक संतोष के लिये बगावत करती थी। हृदय और मस्तिष्कका संघर्ष प्रारंभ हुआ। बुद्धिकी बगावतको बार बार दबाना पड़ता था। इसीमें भलाई थी। साथ साथ स्वामी सत्यानन्दजी के विशुद्ध प्रेम, अनुपम औदार्य, सच्चे सौहार्दने जीत लिया। दोनोंमें परस्पर घनिष्ठता निर्माण हुई। वही आगे बढती गयी।

इसी अर्सेमें शिक्षा पूर्ण हुई। एम्. ए. और शास्त्री भी। नौकरी करना असंभव था। सारा परिवार सीविल सर्विस की और धकेल रहा था। इस परिस्थितीमें रहना दुष्कर था। वहीं कहीं अध्यापनकार्य मिला; वही करते रहे।

एक दिन अन्तर्नाद जागृत हुआ। घरवालोंसे कहा। 'एक मासके बाद मैं संपूर्णतया प्रभुका हो जाऊंगा!'

यह कहना नूतन संघर्षका निमंत्रण था। घरमें रोज वाग्युद्ध होने लगा। आंसुओंके प्रबल जाल बिछाये गये। घरवाले अपना बनाना चाहते थे, पर भगवान् के सामने भला घरवालोंकी क्या चलेगी? दिन बीतने लगे। सप्ताह बीता और महीना बीत गया!

वह दिन आया! घरवालोंसे आखरी विदा लेनेका समय आया। संकल्प वज्रसम था। प्रियजन अपने आँसु नहीं रोक सके और प्रिय जनोंके आँसु आपको नहीं रोक सके। स्वामी

सत्यानन्दजीके आशिष और अनुमतिकी आवश्यकता भी नहीं प्रतीत हुई। भगवानके आदेश पर भला किस की अनुज्ञा और किसका आशिश ?

चला! एक २९ सालका युवक सारे विश्वको अपना परिवार बनाने, अपने छोटेसे परिवारका बंधन तोडकर चला!

नवजीवनका प्रारंभ हुआ। नूतन साधनाका प्रारंभ हुआ, विश्वप्रेमकी साधना शुरू हुई।

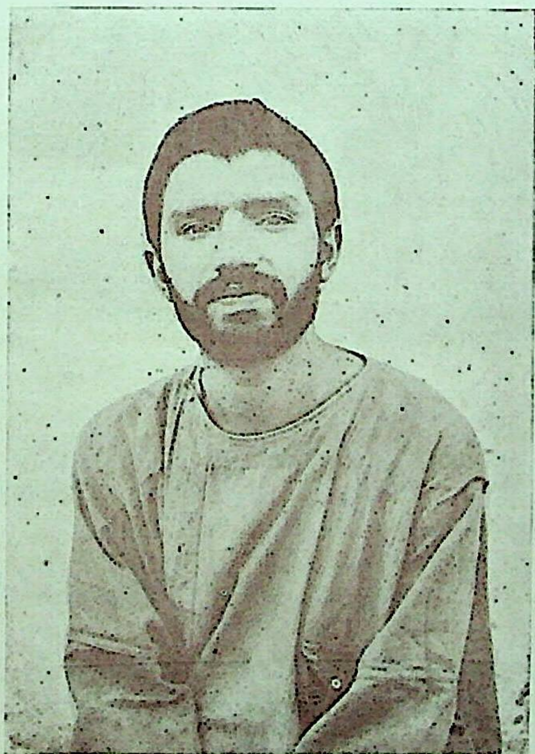
विशुद्ध प्रेम....शायद हृदयमें न समानेसे....निस्वार्थ सेवा के रूप में प्रकट होने लगा, जीवनकी अनुभूतियां प्रवचनके रूपमें व्यक्त होने लगीं, जैसे कलीके खिलते समय खुशबू फूलमेंसे प्रस्फुटित होती है।

तबसे अबतक ईशत्व प्राप्तिकी ओर अग्रसर होते होते, जो कुछ पाते हैं वह अपने अनेक साथियोंको देते देते, जो कुछ मिलते हैं उनको बिना भेदभावके गले लगाते लगाते, जो साथ आते हैं उनको साथ लेकर, गिरनेवाले साथियोंको संभालकर, गिरे हुए साथियोंको उठाकर यह पथिक प्रवास कर रहा है!

कहां ? किस ओर ? कहाँ है वह मंजिल ? कब तक पहुँचेंगे? भला, इसका विचार हम क्यों करें ? और यह समय ही किस को है ? यह पथिक का काम नहीं।

इसका विचार उसे करना है जिसने उस मंजिलकी ओर इशारा किया; जिसने पुकारा !

पथिक का काम है उसके इशारे पर चलना।



स्वामी रामानंद





: १ :

जीवन

जीवन एक विशाल पहेली है और जटिल भी। सुख तथा दुःख की चरम सीमायें, भलाई तथा बुराई का घोर संघर्ष, विचारों तथा आदर्शों का अन्तर्द्वन्द्व और जीवन की विश्वतोमुखी प्रगति, यदि व्यक्ति को परेशान कर दे तो क्या विस्मय ? कई तो इस परेशानी से बचने के लिये सोचना ही बन्द कर देते हैं, परन्तु मेरी समझ में यह कायरता है और आगे बढ़ने से अपने को रोकना है। जितनी बड़ी समस्या है उतना ही मानों हमें ऊपर उठने के लिये चुनौती है, उतना ही बड़ा आगे बढ़ने का अवसर हमारे सामने आ उपस्थित हुआ है।

मैं क्या हूं ? कहां से और किधर को ? यह प्रश्न मनुष्य के अन्तस्तल से उदित होते चले आये हैं। कोई भी वाद– जडवाद अथवा साम्यवाद, साम्राज्यवाद अथवा समाजवाद इनका गला नहीं दबा पाया। यह फिर फिर सजीव होते आये हैं और तब तक जब तक यह समस्यायें और इनके हल मनुष्य समाज के लिये स्पष्ट न हो जायें होते रहेंगे। यही समस्यायें वास्तव में मनुष्य के लिये उसके पथ में प्रेरक सिद्ध होती हैं।

इन प्रश्नों के आसान उत्तर जडवाद ने विज्ञान के बूते निकालने के लिये प्रयत्न किया। चेतना को अणुओं के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाली एक वस्तु सिद्ध कर दिल को हल्का करना चाहा, परन्तु जहां से यह प्रश्न उठते हैं उसी स्थल में सन्तोष होने से शान्ति हो सकती है। यह उत्तर मानुषी अन्तस्तल को संतुष्ट नहीं कर पाते। आज तो बहुत मस्तिष्कों को भी यह संतुष्ट करने में बेकार हैं। विज्ञान की समस्यायें जिन्हें समझा जाता था कि सन्तोष जनक रूप से हल कर लिया गया है फिर फिर उठती हैं और विज्ञान को आध्यात्मवाद की ओर खींचने का यत्न करती हैं। इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि विज्ञान में आज कोई

भी बात ऐसी नहीं जो आध्यात्म चर्चा की विरोधिनी हो। यदि विज्ञान आध्यात्मवाद का पुष्टिकर्ता न भी कहा जाये तो भी विरोधी तो नहीं कहा जा सकता। समझने वाले तो विज्ञान को आध्यात्मवाद का साहायक ही पाते हैं। यदि विज्ञान सत्य का जिज्ञासु है तो आध्यात्मवाद परमसत्य का। परस्पर मेल होना स्वाभाविक ही है।

हमने ऊपर आध्यात्मवाद तथा आध्यात्मविज्ञान–दो शब्दों का प्रयोग किया है। इनका अर्थ पूर्णरूपेण तो आगामी पृष्ठों में शनैः शनैः खुलता चला जायेगा, अभी तो इतना ही जान लेना काफी होगा कि मनुष्य की निजी ऊंची समस्याओं की चर्चा का क्षेत्र आध्यात्मवाद है और समस्याओं की पूर्ति का विज्ञान–आध्यात्मविज्ञान।

जीवन की विभिन्नता में, पारस्परिक संघर्ष में, और अन्तर्द्वन्द्व में भी कोई महान् प्रयोजन छिपा है। कोई विशेष दिशा है जिस ओर मानव जीवन की नौका खिंची चली जा रही है। हमें आगामी पन्नों में इसी दिशा को समझने का प्रयत्न करना है और उसके पीछे जो विज्ञान छिपा है उसे खोलकर रख देना है। यही इस पुस्तक के लिखने का प्रयोजन है।

———

: २ :

परमसत्ता ।

(१)

एक घर में एक नल था। घर का बालक यही समझता था कि नल की टूटी घुमाने से जल आ जाता है, टूटी घुमाने से पैद हो जाता है। उसने घर के बाहर से नल को नहीं देखा था और जलाशय जिससे जल आता है उसकी कल्पना भी न की थी। यही उसकी गल्ती का कारण था। जब हम सोचते हैं कि यह सब यूं ही है हम भी ठीक ऐसे

ही बच्चे बन जाते हैं। इसके आदि स्रोत की विश्व के आदि कारण के होने की आवश्यकता नहीं।

यदि हम हैं तो हमारा आदिकारण भी अवश्य है। यदि जीवन है तो जीवन का स्रोत भी। यदि चेतना है तो चेतना का आदिस्थल भी है और यदि शक्ति है तो शक्ति का उद्गम-स्थल भी अवश्य है। यह सीधी सी युक्ति हमारे भी अन्दर घर कर जाती है। जो जीवन, शक्ति, ज्ञान, आनन्द का आदि स्रोत है वही परमसत्ता है। उसी को हम ईश्वर कहते हैं। उसी को विभिन्न लोग विभिन्न नामों से पुकारते हैं।

यदि मैं हूं तो वह है—इसमें सन्देह नहीं होता। वह कैसा है? क्या है? यह दूसरे प्रश्न हैं। परन्तु वह है यह मौलिक निश्चय है। यह प्रश्न मस्तिष्क की हलचल है; 'वह है,' यह अन्तरात्मा की निश्चयात्मक पुकार है। अगर 'मैं हूं' के लिये हमें बाह्य प्रमाण की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; 'वह है' इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता क्यों?

वह नहीं है—यह तो कोई सिद्ध नहीं कर सकता। क्या किसीने सर्वज्ञता का दावा किया है? वही जो अपने को सर्वज्ञ जाने वही कहे कि वह नहीं है। इस में पेचीदगी ही पेचीदगी है। "जिन ढूंढ्या तिन पाया, गहरे पानी पैठ।"

जिन्होंने अन्वेषण किया—अपनी चेतना का खूब मन्थन किया—भीतर गहरे में जाकर और ऊंचे में आरोहण कर उन्होंने उसे न केवल जाना ही कि वह है—उन्होंने उसके स्पर्श को उसके आलिंगन को, उसके सायुज्य और सारूप्य को भी अनुभव किया है। उन्होंने जीते जी उस में प्रवेश को प्राप्त किया। उनकी ज्वलन्त साक्षी ठुकराये नहीं ठुकराई जाती। जिन जीवनियों में पवित्रता धधकती है, शक्ति तथा ज्ञान की ज्वालायें निकलती हैं, जो आनन्द के अपार रंग में रंगे दीखते हैं—उनको दम्भी तथा वंचक कह कर हम कैसे आत्म प्रवंचना करें? और वैसे महापुरुष अनेक हो गये हैं, एक ही नहीं और आज भी हैं अवश्य—इसी पृथ्वी पर।

वह परम सत्ता है। वह मुझमें अनुस्यूत है और मैं उसमें अनुस्यूत हूं। मैं हूं और वह है—यह अनुभवगम्य है। मस्तिष्क से ही नहीं, हृदय और इन्द्रियों से ही नहीं, शारीरिक चेतना भी इसे प्रतीत कर सकती है। वह रोम रोम में रमता है। इन सब से परे अन्तरात्मा तो यह प्रतीत करता ही है।

'मैं हूं' 'तू है' यह एक ही अनुभूति के दो पक्ष हैं। अन्तरात्मा में रमा हुआ ध्रुव सत्य, फिर फिर मनन किया गया। यह

उच्च मन्त्र, आत्मा में चैतन्य के अतिशय को स्फुरित कर सकता है! "मैं हूं! तू है।"

(२)

परमसत्ता कैसी है? यह प्रश्न रह रह कर हमारे सामने आता है। उपनिषद् उसे मन वाणी से अगोचर—मन वाणी का अविषय बताते हैं। फिर भी सन्त तथा भक्त जन उसके गुणों का गान करते हुए नहीं थकते। विभिन्न रूपों में उसकी लीला का वर्णन करते हैं। कोई निर्गुण कहता है और कोई सगुण—कोई निर्विशेष और कोई सविशेष; कोई निर्व्यक्ति और कोई सव्यक्ति।

रोशनी का अपना कोई रंग नहीं होता। यदि उसे शीशे के प्रिज्म से निकाला जाये तो उसके सात रंग दिखाई पड़ते हैं ओर उसको स्पेक्ट्रम कहते हैं। और उन सात को फिर प्रिज्म में से गुजारा जाये तो फिर रंग के बिना रोशनी प्रगट होती है। इसी प्रकार से वह परम सत्ता तीन गुणों

के रूप में प्रगट होती है परन्तु अपने में तीन गुणों से परे भी है। यदि उसका अपना कोई गुण होता—सत्त्व, रज अथवा तमस्, तो वह एक ही काल में परस्पर विरोधी तीनों गुणों के रूप में कैसे प्रगट हो पाती ? यदि रोशनी का अपना कोई भी रंग रहता तो यह सात विभिन्न रंगों से (विभक्त) प्रगट न होती। इस लिये वही जो निर्गुण है सगुण हो सकता है और जो सगुण है वही निर्गुण हो सकता है। एक ही सत्ता दो भावों में प्रगट है। सन्तों ने भी तो यही कहा है 'निर्गुणहि सगुणहि नहीं कछु भेदा।'

सारे के सारे विशेषों का उदय उससे हाता है इस लिये वह अपने में सब विशेषों से परे निर्विशेष ही होना चाहिए। परन्तु सभी विशेष उसी से प्रगट होते हैं इस लिये सभी विशेष उसी में है अतः वह सविशेष भी है। इसी प्रकार से सभी व्यक्तित्व उसी से हैं और उसीमें व्यक्त हैं। अतः वह व्यक्तित्त्व युक्त अवश्य है; परन्तु उसका सामन्यरूप वाला एक व्यक्तित्व कैसे हो सकता है ? वह सब व्यक्तित्वों को रक्खे हुए भी सभी का अतिक्रमण कर रहा है जैसे सभी गुणों सहित होता हुआ भी वह सभी गुणों का अतिक्रमण करता है।

वह सत्ता सर्व शक्तिमती भी है और सब शक्तियों का अतिक्रमण भी करती है। वह सत्ता इस विश्व में है और इस के परे भी। वह सत्ता इस विश्व के रूप है और इसके परे भी। वह हम में भी है और हम से परे भी। इसी लिये तो यह अनुभूति सम्भव है वह मुझमें है आर मैं उसमें हूं।

वह अपने में कैसा है? इन गुणों से परे? सब सम्बन्धों से अतिक्रमण करने वाला उसका स्वरूप कैसा है? इसका निर्णय कौन कर सकता है? जो इस अनन्त को समूचा लांघ सके, जो इस अनन्त को, इस असीम को ससीम कर दे —वही कह सकता है, और ऐसा होगा कौन?

हम यह कह सकते हैं कि हमारे प्रति वह कैसा है। हम पुकारते हैं तो वह उत्तर देता है। हम उसे बाल भाव पुकारते हैं तो वह स्नेहमयी मां बन कर आगे बढ़ता है। हम मित्र मानते हैं तो वह मित्रता निभाता है, अगर हम सेवक हैं तो वह हमारा स्वामी। वह तो हमारा शत्र बनने के लिये भी उद्यत है। यह व्यावहारिक जगत् की अनुभूति है कि वह हमारी पुकार का उत्तर देता है और ठीक पुकार के अनुकूल। परन्तु इसका एक और भाव भी है जिसका विचार आगे चल कर होगा।

———

: ३ :

विकास

(१)

पुरातन परिपाटी में पूर्णरूपेण मंझे हुए परन्तु आधुनिक विज्ञान से कम परिचय रखनेवाले, अपने को धर्म धुरन्धर बनाये हुए, अनेक महानुभाव विकास के नाम से चिढ़ते हैं। 'विकास! यह तो कल के छोकरों की बातें हैं। इस धारणा ने तो श्रद्धा –विश्वास की बेड़ी बहा दी धर्म कर्म की खिल्लियां उड़ा दीं।' विश्वास जैसी कोई वस्तु उनकी समझ में नहीं आती।

हम पक्षपात से रहित होकर इस सृष्टि पर होने वाली विविध रचना पर दृष्टि पात करेंगे। पत्थर-मिट्टि आदि एक जड-पदार्थों की श्रेणि है, जिन में जीवन के लक्षण-स्वाभाविक उत्पत्ति, वृद्धि ऱ्हास आदि का क्रम दिखाई नहीं पड़ता। दूसरी श्रेणि है—पेड़-पौदों का वनस्पतिजगत्—वह उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं और एक विशेप अवधि के अनन्तर क्षीण हो जाते हैं—उनकी जीवन-परम्परा सदैव के लिये शान्त हो जाती है। इनके विपय में हम वैज्ञानिकों के अन्वेपणों के आधारपर जानते हैं कि यह श्वास लेते हैं, सोते तथा जगते हैं, हर्प शोक भी अपने ही मूक भाव में प्रतीत करते हैं। इन में गतियां होती हैं, परन्तु सामुदायिक रूपेण पौदा अपने स्थान को छोड़ कर अपने आप दूसरी जगह नहीं जा सकता। तीसरी श्रेणि में पशु हैं—छोटे से छोटे जीव से लेकर मनुष्य को छोड़कर नीची कोटि के सभी पशु। इन में तारतम्य अवश्य है। पेड़-पौदों से पशुओं में अधिक बुद्धि है। अधिक गति और सामर्थ्य है, दुःखसुख की अधिक तीव्र तथा स्थायी प्रतीति है—यह सब निर्विवाद सिद्ध है।

चेतना के प्रगट होने के सामान्यतः तीन ढंग हैं। वह ज्ञानशक्ति, भावशक्ति तथा क्रियाशक्ति के रूप में प्रगट

होती है। ज्ञान की शक्ति से तात्पर्य, जानने का सामर्थ्य है, भावशक्ति प्रतीत करने का सामर्थ्य है। आन्तरिक उद्वेग ही इसका प्रधान क्षेत्र है। काम, क्रोध, प्रेम, हर्ष इत्यादि भाव प्रतीत किये जाते हैं।

सुख तथा दुःख प्रतीत किया जाता है। अंग्रेजी भाषा में इसे फीलिंग अथवा एफेक्शन कहते हैं। क्रियाशक्ति का पूर्वरूप संकल्प है। इसको कोनेशन कहते हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं। यदि हम चेतना की दृष्टि से ऊपर वर्णन की गई तीनों श्रेणियों को देखते हैं तो हमें एक स्पष्ट तारतम्य दिखाई देता है। जड़ पदार्थों से अधिक चेतना पेड़–पौंदों में है और उनसे अधिक सचेतन पाशविक जगत् है। उससे बढ़ कर इस दृष्टि से मनुष्य है।

विज्ञान के द्वारा निर्धारित विकास के क्रम को यदि देखा जाय तो उस क्रम में उत्तरोत्तर संगठन की जटिलता तो दिखाई पड़ती ही है। उसमें क्रम भी यही मिलता है जो हमने ऊपर देखा। वैज्ञानिक इस उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जटिल आकृतियों के विकास के कारण को नहीं बता पाये, विकास हुआ

है इतना मात्र ही निश्चित रूप से कह पाये हैं *। परन्तु, हम इस के कारण को भी समझ सकते हैं।

उत्तरोत्तर उद्भूत होती हुई चेतना के लिये आवश्यक है कि उसकी अभिव्यक्ति के यन्त्र—अवयव—भी जटिल होते चले जायें। मनुष्य की बुद्धि की क्रियायें एक बन्दर के दिमाग़ में पूर्ण रूपेण हो सकें, यह असम्भव है। उस शरीर से उन भावों अथवा क्रियाओं के होने की सम्भावना नहीं है जो मनुष्य के लिये सम्भव हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि चेतना की अधिक प्रस्फूर्ति के साथ ही साथ शरीर में विशेष परिवर्तन अवश्यम्भावी हैं।

इतना लिखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम इस जगत् में उत्तरोत्तर होते हुए चेतना के विकास को पाते हैं। आज तक विकास इस चेतना की अभिव्यक्ति को एक दर्जे तक ले आया है। मनुष्य में हमें इसका अतिशय देखने में आता है।

---

* यद्यपि विकास की प्रक्रिया के विषय में वैज्ञानिकों में मतभेद हैं, और दुसरी भी कुछ समस्यायें हैं, परन्तु आज 'विकास' का प्रमाणभूत इतना मसाला जमा हो चुका है कि हम विकास की सत्यता से इनकार नहीं कर सकते।

(२)

ऐसा कहने में आता है; 'पुष्प विकसित होगया' तात्पर्य, खिल उठा। आपने कभी पुष्प की कली देखी होगी। उसमें पंखुड़ियां बनी रहती हैं, समय पाकर वह ऊपर के आवरण का भेद कर प्रगट हो जाती हैं। कई कई बीजों में भी पौदों का दिग्दर्शन हो सकता है। ऐसा ही अर्थ इस विकास शब्द का है जब हम इसको चेतना के सम्बन्ध में बरतते हैं। चेतना छिपी रहती है वही धीरे धीरे सृष्टि के क्रम में विकसित होती हुई विभिन्न शरीरों योनियों की परम्परा को लांघती हुई मनुष्य के शरीर में आ कर एक दर्जे तक अभिव्यक्त होती है। इस का अर्थ है कि वह चेतन जो आज पत्थर में है वह किसी दिन पेड़-पौदों में आयेगा, फिर पशु जगत् में और किसी दिन मनुष्य शरीर में। और चेतन का अर्थ है, जिसकी चेतना है—जिसका सहज अभि-व्यक्ति चेतना है। हम उसे चेतना का केन्द्र भी कह सकते हैं। उसी बात को चिर काल से यूं भी कहा गया है कि

मनुष्य शरीर की प्राप्ति ८४ लाख योनि भोगने के उपरान्त होती है। यहूदी ग्रन्थ भी ठीक ऐसा ही कहता है—

A stone becomes a plant; a plant a beast; a beast a man; a man a Spirit and the Spirit a God. *
Jewish Kahala.

जो नहीं है, सृष्टि के क्रम में जिसका नितान्त अभाव (न होना) है वह हो जायेगा ऐसी कल्पना करना भी असम्भव है। बाह्य मानुषी सृष्टि में ही यह बात देखने में आती है, परन्तु वास्तव में वस्तुओं की अभिव्यक्ति मात्र होती है। वह सूक्ष्म रूप में, विचार के रूप में, हमारे भीतर रहा ही करती है। इस झगडे को अलग कर के भी सृष्टि क्रम की जब हम विवेचना करते हैं तो हमें सांख्य दर्शन पूर्ण रूपेण विकास के पथ का अनुयायी प्रतीत होता है। सांख्य-धारणा के अनुसार तो प्रकृति में सब कुछ छिपा हुआ है, हाँ, वह सूक्ष्म है, क्रमशः प्रगट होता है। कोई नया आकाशादि का निर्माण होता हो, ऐसी बात कदापि नहीं। जिस प्रकार से एक मदारी अपने पिटारे में से एक एक वस्तु करके निकालता चला जाता है और अन्त में अनेक वस्तुएं हो जाती हैं, ठीक इसी प्रकार से प्रकृति करती है। और इस प्रकृति में चेतना छिपी रहती है। वह चेतना धीरे धीरे प्रगट होती है और आवश्यकतानुसार

प्रकृति योग देती हुई उसके लिये शरीरों को तैयार करती चली जाती है। वह चेतन छिपा रहता है--न छिपा हो तो उसकी अभिव्यक्ति ही कैसे हो पाये? यही प्रकृति में पुरुष का आत्मनिधान है—यही है बीजारोपण,+इसी को गर्भाधान कहते हैं। पिता पुत्र के रूप में आ जाता है पुरुषोत्तम जीव के रूप में आ जाता है, और उपनिषद् भी तो कहता है—

पिता वै पुत्रो अजनि।*

इस आत्मनिधान को इवोल्यूशन कहते हैं। इस आत्म-निधान के बिना प्रकृति सूनी है, जैसे बिना दूल्हे की वरात। वह बाजार जिस में कोई खरीदने वाला नहीं किस काम का? और मैं ने पहले ही कहा है चेतन के आत्मनिधान के बिना उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती।

मैं तो ऐसा समझता हूं कि जीव आत्मनिहित पुरुषोत्तम है। प्रकृति उसी की शक्ति है। वह जो प्रकृति के पार था, पार रहता हुआ भी अपने आपको इस लिये प्रकृति में छिपा लेता है कि वह प्रकृति में भी पूर्णतया प्रगट हो। यही

+ तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्-गीता।
* पिता पुत्रके रूप में उत्पन्न हुआ।

एक तरह से भगवान् की सगुण लीला है। यही भागवती लीला है—यही उसकी माया है। वह पूर्णरूपेण यहां अभिव्यक्त होना चाहता है। जड जगत्, वनस्पतिलोक, पशुसमुदाय और मनुष्य—यह सभी उसी अभिव्यक्ति के पूर्वरूप हैं। यह क्रम यहीं पर समाप्त नहीं हो सकता। यह आगे बढ़ेगा। बढ़ भी रहा है।

पुरुषोत्तम परमसत्ता का ही दूसरा नाम है, वह मुझे कह देना चाहिये।

(३)

पत्थर की योनि से हमें पौदे की योनि में डाला तो किसने और क्यों? और फिर ८४ लाख का आरोहण करते हुए हम मनुष्य शरीर में आ पहुंचे तो किसके बूते? सत्कर्मों का फल? सत् और असत् की तो हमें कल्पना भी न थी। सोचने का सामर्थ्य ही हम में न था, भले बुरे की कल्पना कैसे हो पाती? यह आरोहण हमने स्वयं करके नहीं किया।

किसी दूसरी शक्ति ने मानो हमें धीरे धीरे ऊपर ढकेल दिया है। प्रतीत होता है "विकास की प्रेरणा ही इस जगत् की मौलिक प्रवृत्ति है।" सब गतियां व्यक्ति को स्वभावतः ऊपर उठाने के लिये ही हैं। यही भगवान् की कृपा है। (है यह आत्मकृपा इसमें क्या सन्देह ? बाप अपने बेटे की वृद्धि का यत्न करता है तो वस्तुतः वह अपने पर ही कृपा करता है।)

विकास की वेगवती धारा, जो रोकने से नहीं रुकती है विश्व को बहाये ले जा रही है। मनुष्य की कोटि तक आने में सब काम उसी ने किया। अब मनुष्य में बुद्धि प्रगट हो गई है। इस बुद्धि के बूते वह अपनी नौका का कर्णधार बन सकता है—उसे बनना ही पड़ता है। अब वह चाहे तो अपनी नौका को विकास के प्रवाह की ओर—साथ साथ तेज़ी से बढ़ाये और प्रवाह से भी तीव्र चले और चाहे तो नौका का मुंह मोड़कर उलटा चलने का यत्न करने लगे। प्रायः उस वेग का मुकाबला करना असम्भव है, अधिक से अधिक हम अपने को कुछ समय के लिये शायद स्थिर ही कर पायें। जो चप्पुओं को डाले बैठा है, वह भी बहा जाता है।

प्रश्न होता है, मनुष्यत्व के आगे क्या है ?

मनुष्यत्व के आगे देवत्व नहीं तो दिव्यत्व अवश्य है। बुद्धि के क्षेत्र तक हम पहुंचे हैं। यही मनुष्यत्व की विशेषता है। बुद्धि का ज्ञान विश्लेषण से—भेद से होता है परन्तु वस्तु-ज्ञान तो इसके परे भी है और कहीं उत्तम। समाधि-ज्ञान तथा महाचैतन्य का क्षेत्र अभी हमारे आगे हैं। वह ज्ञान जिससे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु भी अपने रहस्य को सहज में खोल देता है और उससे परे वह ज्ञान जिसमें सभी का एकीकरण एक में होकर एक का दर्शन अनेक में होता है, वह ज्ञान जिसको समता कहा है—

'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि। * —गीता'।

इस ज्ञान की अभिव्यक्ति तो अभी बाकी है।

हमने अभी भाव के क्षेत्र में तीव्र रूप से सुखी अथवा दुःखी होना ही सीखा है। जितना दुःखी अथवा सुखी मनुष्य होता है उतनी सम्भावना, पाशविक जगत् में नहीं

---

* जिस (ज्ञान) से तू सब भूतों को आत्मा में और मुझ में देखेगा।—अध्याय ४-३५

दीखती। हमें इन दोनों—सुख तथा दुःख—का अतिक्रमण करना है। उस अवस्था को अभी अनुभव करना है जिसे आनन्द कहते हैं। सामान्य सुख तथा दुःख में भी वह अनुस्यूत है और अनुभूत हो सकती है। वह आनन्द है जिसके सामने सुख तथा दुःख दोनों फीके पड जाते हैं—

यल्लब्ध्वा नापरं लाभं मन्यते अधिकं ततः। S —गीता

उस आनन्द में विचित्र साम्य की सी स्थिरता भी है।

क्रिया के क्षेत्र में हम प्रकृति के चेरे हैं। हमारी शक्तियां सीमित हैं और हमारा सामर्थ्य पग पग पर वंचित होता है। हमारे भीतर छिपी हुई शक्तिमत्ता अभी व्यक्त कहां हो पाई है! उसे हमको व्यक्ति में लाना है।

हमारे भीतर सच्चिदानन्द छिपा है, हमें उसे पूर्णरूपेण व्यक्त करना है। हमें सर्वशक्तिमान् (सत्) सर्वज्ञ (चित्) तथा आनन्दमय होना है। यही सीढी है जिसे विकास के क्रम में हमें चढ़ना है, जिसके चढ़े विना हमें चैन नहीं मिल सकता।

S जिसे प्राप्त कर दूसरा लाभ उस से अधिक नहीं रह जाता। —गीता।

सत् अमर है। चेतना मरणधर्मा नहीं है। उस अमृतत्त्व का लाभ हमें करना है। अमर हम हैं ही। इस अमरत्व की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। शरीर का परित्याग एक अवश्यकता न रहे—हमारे संकल्प के अधीन बात हो—ऐसी अवस्था को लाभ करना होगा। हम शरीर के—प्रकृति के स्वामी हों—वह हमारी स्वामिनी न हो, यह आदर्श हमारे सामने है।



: ४ :

अध्यात्म

अध्यात्म शब्द की व्याख्या करने का अवसर आ गया। आत्मा शब्द के साथ सप्तम विभक्ति का प्रयोग करने से ' आत्मनि ' शब्द संस्कृत में बनता है और उसी अर्थ को प्रगट करने का दूसरा तरीका है 'आत्मा' के साथ 'अधि' लगा देना—इस प्रकार अध्यात्म शब्द बनता है। अध्यात्म—आत्मासे सम्बन्ध रखने वाला है।

' आत्मा ' बहुत व्यापक शब्द है। आत्मा अपने आप को भी कहते हैं; इस अपने आपका जो आदिकरण है, जिस

स्रोत से इस सारे अपने आपका उदय हुआ है, उसे भी आत्मा ही कहते हैं। हम इस शरीर की आत्मा हैं, भगवान् इस विश्व की आत्मा हैं। दूसरी तरह के प्रयोग में हम कहेंगे कि यह शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि हमारी आत्मा है--अपना आप है और यह विश्व भगवान् की आत्मा है--शरीर है। आत्मा शब्द अंग्रेजी में [Self] सेल्फ करके कहा जाता है--फिजीकल सेल्फ, मेण्टल सेल्फ, स्प्रिच्युअल सेल्फ इत्यादि। 'आत्म संयम' में इसी अभिव्यक्ति का मन-बुद्धि आदि का ही तो संयम होता है आत्मा के द्वारा।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है--' स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ' और इससे पूर्व 'अक्षरं परमं ब्रह्म' ❋। 'परम अक्षर ब्रह्म है' और 'स्वभाव अध्यात्म कहलाता है'। तो वह परमसत्ता जिस भाव में प्रगट होती है वह सारा अध्यात्म है। आत्मा और आत्मा की विभूति, परमसत्ता और उसका विविध भाव में प्रगटीकरण--अभिव्यक्ति--अध्यात्म शब्द में आजाती है। अध्यात्म शब्द ऐसा है जो मन बुद्धि से परे आत्मा, तथा बुद्धि, मन, इन्द्रिय तथा शरीर तक का समावेश करता है। जब हम अध्यात्म कहते हैं तो कुछ छूट नहीं जाता।

❋ अध्याय ८. ३

मैं इतना व्यापक अर्थ क्यों लगा रहा हूं ? लीला स्वाभाविक है। सृष्टि और प्रलय भगवान् का--परमसत्ता का--स्वभाव है। यह सहज है। प्रयत्न विशेष से नहीं और एक बार हो कर फिर न होने वाले भी नहीं है।

वह विकास जिसकी चर्चा हमने पिछले कुछ प्रसंगों में की, वास्तव में आध्यात्मिक है--अध्यात्म से सम्बन्ध रखने वाली है। बुद्धि—मन—इन्द्रिय--शरीर में विकास होता है यह तो हमने देख ही लिया था। इसके साथ ही यह भी देखा था कि भीतर घूंगट ओढे छिपी हुई चेतना भी धीरे धीरे प्रगट होती चली जाती है। उसकी छिपी हुई विचित्र कलायें—शक्तियां—प्रगट होने लगती हैं। इसी लिये तो शरीरादि में परिवर्तन होता है। यही मनबुद्धि से परे जो आत्मसत्ता है उसका विकास है।

आत्मा में विकास होता है—इन शब्दों को सुन कर कई एक चौंक उठेंगे। जो अपने में पूर्ण है, जो सब सम्बन्धों से परे है—जो गुणों से अतीत है, उस में विकास की कल्पना ? वास्तव में विकास शब्द के अर्थों को यदि हम विचार पूर्वक जाने तो ऐसी घबराहट न हो। विकास में नयी उत्पत्ति

नहीं होती, केवल मात्र भीतर छिपी हुई शक्ति ही प्रगट होती है। मैं ने यह बात पहले भी कही है।

आत्मा विकसित होती है—खिल उठती है—जैसे फूल खिलता है; और उसकी महक शरीरादि में व्याप्त होती चली जाती है, वह बदलते जाते हैं और उस खिलती हुई आत्मा के लिये उपयुक्त यन्त्र बनते चले जाते हैं। यही आध्यात्मिक विकास का अर्थ है।

आध्यात्मिक विकास मन—बुद्धि—शरीरादि से परे होना मात्र नहीं है। कैवल्य ही इस योग * की अन्तिम कोटि—विश्रामस्थली नहीं है। आध्यात्मिक विकास जो आत्मा की सम्पूर्ण सन्निहित शक्तियों को पूर्ण रूपेण प्रकृति में अभिव्यक्त करना है, स्थूल जगत् तक में ले आना है। यह प्रकृति से भागने का योग नहीं है यह प्रकृति को भी आत्मभूत करने का योग है। आत्मा के पूर्णत्व को प्रकृति में प्रगट करना है—यही इस आध्यात्मिक विकास का लक्ष्य है।

———

* उपाय, साधना।

: ५ :

योग १

हमने देख लिया है कि इस जगत् में आध्यात्मिक विकास का प्रवाह अनवरत चल रहा है। जिस पद्धति से वह आध्यात्मिक विकास होता है उसी को योग का नाम दिया जाता है। जिस क्रिया में जड़ चेतन, सभी जुड़े हैं—जिस काम को पूर्ण करने में प्रकृति की सारी शक्तियां योग देती हैं—जिसे सम्पन्न करने में देव भी प्रयत्नशील हैं, वह 'योग' है। और, बिना एकाग्रता के, बिना समाधि के, बिना सब शक्तियों के सन्तुलन के, इस योग की निष्पत्ति असम्भव है, इसलिये भी तो यह 'योग है।

सुखदु:ख की सतत लीला, गुणों का अजस्र संघर्ष, भलाई और बुराई का मुकाबला, जीवन तथा मृत्यु का अभिनय, स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की होड़, राज्यों के घोर विप्लव, हृदय विदारक पीड़ायें, दमन तथा दलन, संसारवर्ती युद्धों के आतंक, सिसकते हुए बालकों के आंसु और राजमहलों में रमण तथा रमणियों की केलियां, पुष्पों का विकास और ह्रास, सहानुभूति और प्रीति—कहां तक कहूं, जो कुछ देखने में, सुनने में, कल्पना में आता है और जो नहीं आता है, वह सब इसी योग की—विश्वव्यापी सहजयोग की-गतियां हैं। भयंकर तथा कोमल, वांच्छनीय तथा अवांच्छनीय सभी इसी योग के अंग हैं। इन सभी से यह पुष्ट होता हुआ, आध्यात्मिक विकास के प्रवाह को प्रेरित करता चला जाता है।

मैं कह रहा हूं कि विश्व की प्रत्येक प्रगति इसी आध्यात्मिक विकास में योग देती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आंखों से इस जगत् की प्रत्येक वस्तु को देखता है और अपने ही मांपतोल के पैमाने से मूल्य आंकता है। हम दुनियां में दु:ख को देखकर भयभीत हो जाते हैं और कहने लगते हैं इस विश्व को बनाने वाला कोई शैतान है। इसी प्रकार से बुराई हमारे दिल को दहला देती है। यह समझना कठिन नहीं

कि यह मापतोल सारे के सारे परिवर्तनशील हैं। वही घटना जो एक के लिये सुख का कारण होती है वह दूसरे के लिये दुःख का कारण होती है। अपने दृष्टिकोण को मनुष्य अपने ही जगत् तक सीमित रखते हैं। मृत्यु मनुष्यों के लिये दुःखदायी हो सकती है, परन्तु उसी मृत्यु से कितने ही कीड़े पनपते हैं और उसी मृत शव का आहार करके जीते हैं।

बुराई भी आवश्यक है भलाई के उद्भव के लिये—ऐसा ही सत्य प्रतीत होता है। सत्व—रजस्—तमस् इन तीनों की पारस्परिक क्रिया से यह गाड़ी आगे चल सकती है। तमस् के अभाव से भी यह खेल समाप्त हो जायेगा।

बुराई तथा भलाई इत्यादि का विकास में क्या स्थान है? इसकी चर्चा तो हमें आगे करनी है। यहां तो यही कहना है कि विश्व में—संसार में,—यह सहज योग चल रहा है। सारी गतियां उसी ओर ले जाने वाली हैं कोई सीधी ही और कोई टेढ़ी—परन्तु उधर ही ले जाती हैं। कोई विरोध के द्वारा प्रेरणा करती हैं और कोई सहयोग के द्वारा। हमें दोनों प्रकार की प्रगतियों में इस योग को देखना होगा। हमें भले और बुरे में, आचार और अनाचार में, जन्म तथा

मृत्यु में, आदर तथा अनादर में—सभी में अध्यात्म विकास के योग को ढूंढना होगा ऽ। कहीं स्पष्ट दीखेगा और कहीं पहले पहले दिखाई नहीं देगा। हमें विश्वास से उसे पहचानना होगा—क्योंकि वह है अवश्य।

किसी ने बहुत अच्छा कहा है—

' Thou art the cause supreme of life
The hivdden good in every ill,
Which even they who luie in stribe
Do serve with an unconscious will. ' *
Trans. La Nature.

ऽ परन्तु क्या विकास का ऐसा क्रम सम्भव न था जिस में बुराई तथा दुःख होता ही न ? इस सम्भावना का निर्णय करना हमारी सामर्थ्य से परे की बात है। हम इतना जानते हैं कि वर्तमान के लिये यह अनिवार्य है। यह प्रश्न तो मुझे उस बच्चे के प्रश्न जैसा प्रतीत होता है जो कठिन प्रश्नों से दिक आकर कहे—क्या बिना मुश्किल सवाल हल किये बुद्धि का विकास नहीं हो सकता ? कोई ऐसा सुगम उपाय भी होगा ही ! इन प्रश्नों का विचार करने में व्यक्ति को अपने दृष्टिकोण को व्यक्तित्व से ऊपर उठाने का यत्न करना होगा, हो सके तो अतिमानुषिक दृष्टिकोण से विचारना होगा।

* तुम जीवन के प्रमुख कारण हो; प्रत्येक बुराई में छिपी भलाई तुम्ही हो। संघर्ष में लगे रहने वाले भी अनजाने तेरी ही लीला में योग देते हैं।

: ६ :

योगेश्वर

परम सत्ता के विषय में हमने चर्चा की थी और यह समझने का यत्न किया था कि वह निर्गुण भी है और सगुण भी, निर्विशेष भी और सविशेष भी, वह प्रकृति के भीतर भी है और बाहर भी। हमने यह भी कहा था कि हम जानते हैं कि वह हमारी पुकार को सुनता है।

वही परम सत्ता एक भाव में प्रकृति का सृजन करती है—माया—मायने वाली, निर्माण करने वाली शक्ति के द्वारा इस रचना को माप देती है—बना डालती है; और वही

प्रकृति से सम्बद्ध परन्तु उसकी अधिष्ठाता अपनी 'स्वभाविकी ज्ञान बल क्रिया' के द्वारा इसका नियन्त्रण करती है। यह समझना कठिन नहीं। हमारी ही शक्ति मन, इन्द्रियों तथा शरीर में क्रिया करती है और फिर हमारी ही शक्ति बुद्धि में स्थित हो कर उन क्रियाओं का नियन्त्रण करती है। हम यदि अपनी शक्ति को इस 'आत्मा' में से खींच लेते हैं तो मन बुद्धि इन्द्रियों तथा शरीर की ही क्या बुद्धि की क्रिया भी शान्त हो जाती है। हम ही कर्ता हैं और नियन्ता भी। इसी प्रकार से परम सत्ता भी इस विश्व की रचयित्री है और इस का नियन्त्रण करने वाली भी।

हमारी शक्ति हमारा ही भाव है—स्वभाव है; हमारी प्रकृति है। इसी प्रकार से परम सत्ता की शक्ति उसका स्वभाव है, प्रकृति है। उससे कदापि भिन्न नहीं।

जब हम उस परम सत्ता के इस नियन्तृभाव का चिन्तन* करते हैं तो हम उसे ईश्वर कहते हैं और उसको योगेश्वर भी कहते हैं। जिस योग की चर्चा हमने पिछले प्रसंग में की थी, उस योग के अधिष्ठाता परमपुरुष, परमसत्ता, भग-

* श्वेताश्वतरोपनिषत्।

वान् ही है। वही योगेश्वर है। उन्हीं की शक्ति से, उनकी अनुमति में यह योग प्रवृत्त होता है। वास्तव में यह सारी लीला उन्हीं की है। वह अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा इसे आगे लिये चले जा रहे हैं।

योगेश्वर भाव व्यक्तित्व सम्पन्न सगुण भाव है—परसनल गॉड है। इसकी शक्ति—जिसके द्वारा यह विकास का क्रम चालू रक्खा जाता है उस को हम महाशक्ति अथवा माता कह कर पुकारते हैं। महाशक्ति क्रियाशील ईश्वर है—डायनेमिक डीवाइन है। सभी उपासनाओं की और योग की अधिष्ठात्री यही है। हम पुकारते हैं तो उत्तर इसी केन्द्र से आता है। हम आगे बढ़ते हैं तो लेने के लिये मानों प्रभु ही मा बन कर आते हैं। इसी की अनन्त शक्ति की बाढ़ वेग से सारे संसार को उस पुरुषोत्तम की पूर्णाभिव्यक्ति के पथ में बढ़ाये लिये जा रही है।

मैं ने आगे कहा है—यह कोई काल्पनिक सत्ता नहीं है। यह सक्रिय सगुण ईश्वर है, अनुभव गम्य है। हम उसके न केवल सम्पर्क को प्रतीत कर सकते हैं। हम उसमें निवास कर ही रहे हैं और सजग रूप में, पूर्णरूप में इसे अनुभव कर

सकते हैं। वह हमारी पथ-प्रदर्शिका महाशक्ति है। यही कृपा करने वाली है। इसी की चर्चा करनी बाकी थी।

पुरुष और स्त्री का भेद, माता और पिता का भेद, शक्तिमान् और शक्ति का भेद इस सीमित संकुचित दृष्टि का परिणाम है। ज्यों ज्यों हम सूक्ष्म में प्रवेश करते हैं, विशुद्ध सत्ता के जगत् में आरोहण करते हैं, त्यों त्यों यह भेद विलीन होता जाता है। हृदय के विभिन्न भावों का आश्रय लेकर, अथवा मस्तिष्क के विभिन्न धारणाओं का अवलम्बन लेकर, हम उसे पिता अथवा माता कहते हैं। पुरुषोत्तम अथवा शक्ति वास्तव में एक ही है और दोनों वही है!

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।' *

———

* तू ही माता है और तू ही पिता। तू ही बन्धु है और तू ही सखा।

: ७ :

शिव

योगेश्वर की योगमयी लीला के विषय में हमने तनिक विचार पिछले पृष्ठों में किया है। योगेश्वर की ही संकल्प की शक्ति से इस सारी लीला का नियमन होता है। भगवान् इस सारी लीला के द्वारा सभी को प्रतिपल उस पूर्णता के ध्येय की ओर लिये चले जा रहे हैं। यही परममंगल है—शिव है; और प्रभु स्वयं मंगलमय हैं। अन्यथा उनका योगेश्वरत्व नहीं रहता। जब तक हम उस शिवत्व—पूर्णत्व—को जो इस सृष्टि की प्रत्येक गति के भीतर छिपा हुआ ध्येय है, नहीं पहिचान पाते तब तक वास्तव में उस योगेश्वर की मंगलमयी योग—लीला को पहिचानना कठिन ही है।

संकुचित दृष्टि के द्वारा हमें कहीं मंगल और कहीं अमं-गल दिखाई देता है। जिसमें हमारी नजर कुछ सुख, कुछ भलाई ढूंढ सकती है उसे हम मंगल कहते हैं और जिसमें वह ढूंढे नहीं मिलती उसे हम अमंगल कहने लगते हैं। पर मैंने आगे भी कहा है कि जो हमारे लिये अमंगल है वह दूसरे के लिये मंगल हो सकता है। जो हमारे लिये भला है, वह दूसरे के लिये बुरा हो सकता है—इसलिये हमारा दृष्टिकोण और हामारा व्यक्तित्व ही इस बात का निर्णायक कैसे हो?

ज्यों ज्यों व्यक्ति अपने सीमित व्यक्तित्व का अतिक्रमण करता है, जैसे जैसे उसकी दृष्टि द्वंद्वों से ऊपर उठती है, और सम होती चली जाती है, वैसे वैसे वह देखता है कि उसके जीवन की—गत जीवनकी, प्रत्येक गति उसे पुरुषोत्तम के पूर्णत्व की ओर ले जाने वाली थी। यदि इस जीवन वृत्त की शृंखला में से एक कड़ी भी छूट जाती तो न जाने उस की स्थिति कहां होती?

भगवान् शिवस्वरूप है। वह मंगलमय है। उनके संकल्प से—अनुमति से जो कुछ होता है वह मंगलमय ही है। पौरा-णिक शिव भले ही चिताभस्म से अंकित हों, स्मशानवासी हों, और नागमाला से सुसज्जित हों, परन्तु है वह शिव ही।

उनके तत्त्व को जानने के लिये इन बाह्य चिह्नों का अतिक्रमण करके इनके परे जो तत्त्व है, उस तक पहुंचना होगा।

स्वामी विवेकानन्द ने कैसा सुन्दर कहा है :-

Who dares the form of misery love,
And hug the form of death,
Dance in Destruction's dance,
To him the Mother comes. *

वैसे भी सोचियेगा यदि यहां पर अमंगल की संभावना हो तो योगेश्वर कैसे योगेश्वर होते हैं। तब सृष्टि एक शैतान की रचना और शैतानी को प्रगट करना ही इसका उद्देश्य हो जाता है। परन्तु, हम तो इसके विपरीत देखते हैं कि तामसी शक्तियां तो स्वयं ही नष्ट होने वाली हैं और राजसी भी परस्पर संघर्ष से नष्ट होती चली जाती हैं। हमने यह भी देखा कि सृष्टि के क्रम में धीरे धीरे चेतना के उदय के साथ साथ तत्त्व का विकास होता है और वह बढ़ता चला जाता

* जो दुःख की प्रतिमा से प्रेम करने का साहस रखता है, जो यमदेव को गले लगाने का दम भरता है और जो ताण्डव नृत्य में कदम मिला सकता है—उसी के पास 'मां' आती है।

है। यदि हमें किसी विशेष गति के मंगलमयत्व का बोध एक-दम से न हो सके तो हम इतने मात्र से सृष्टि के भीतरे छिपे मंगल को भूल न जाये और न ही भगवान् के शिवत्व को।

जब तक यह दृष्टि लाभ नहीं होती, 'वासुदेवः सर्वमिति' —वासुदेव ही सब कुछ हैं—इस तत्त्व की प्रतीति असम्भव है। अध्यात्मविकास में यह आवश्यक सीढ़ी है। हमें जीवन में तथा मृत्यु में, काम में तथा क्रोध में, प्रीति में और युद्ध में, पाप पुण्य में, पतित में और सन्त में—सभी गतियों में, घटनाओं में, व्यक्तियों में, उस एक शिव की मंगलमयी लीला को देखना सीखना है। तभी हम अपने संकुचित दृष्टिकोण का अतिक्रमण कर पायेंगे और तात्त्विक दृष्टि के भागी होंगे।

अध्यात्मिक विकास का यह ज्ञान है।

———

: ८ :

जरामरण।

जरामरण—बुढ़ापा और मृत्यु—इन दोनों का नाम सुन कर बड़े बड़े वीर कांप उठते हैं। जरा और मरण को देख कर महात्मा बुद्ध वैराग्य पथ में प्रतिष्ठित हुए और आज भी जरामरण की चिन्ता से व्याकुल कई लोग घर-गृहस्थी का परित्याग कर योगधारण करते हैं। जरामरण से मुक्ति के लिये शास्त्र पुकार पुकार कर कहता है। इन दोनों से मुक्ति पाना ही मोक्षशास्त्रों का मुख्य ध्येय है। और यही हैं जो जीवन के ध्रुव, यद्यपि घोर सत्य प्रतीत होते हैं। हमें तो अपनी ही दृष्टि से इन पर विचार करना है और इनके मंगलमयत्व को खोजने का यत्न करना है।

जरामरण में मुझे तो मरण ही प्रधान दीखता है। जरा तो वह सडक है जो मृत्यु के मन्दिर तक ले जाती है। जरा की पराकाष्ठा-परला पार-मृत्यु है इस मरण को समझने से जरा अपने आप समझ में आयेगा।

मरना शरीर को बदलना है, जैसे कपडों को बदलना; परन्तु इस बात की आवश्यकता ही क्यों पडती है! शायद आप सोचते हों कि प्रकृति ने हमें बान्ध रखा है और कोल्हु के बैल की तरह हमें घुमाये फिरती है। मैं तो ऐसे नहीं सोचता। प्रकृति उस आनन्दमय, मंगलमय प्रभु की शक्ति है; उस में ऐसे क्रूरकर्म की सम्भावना कैसे? वह भी वस्तुतः आनन्दमयी तथा मंगलमयी है। हमें इस क्षेत्र में-जगत् में आना होता है और इस में बिना स्थूल पोशाक पहिने आया ही नहीं जाता। स्थूल जगत् में तो स्थूल शरीर से ही आ सकते हैं। परन्तु हमें यहां आना क्यों होता है? क्यों कि इस क्षेत्र में अभी हमें बहुत कुछ सीखना है—अभी तक हमारे विकास का क्षेत्र यही है। एक विद्यार्थी को स्कूल में तब तक जाना पडता है जब तक वह सारी शिक्षा जो उसे वहां प्राप्त हो सकती है, वह प्राप्त नहीं कर लेता। बीच ही में से भाग जाय तो वह मूर्ख रह जाता है। दयामयी प्रकृति

हमें भागने नहीं देती। वह वास्तव में माता हीं है। वह तो हमें फिर बुलाती है जब तक हम उस विकास को लाभ नहीं कर लेते जो इस स्थूल क्षेत्र में हमें करना आवश्यक है।

परन्तु प्रश्न तो बना ही रहा, शरीर बदलने की क्या आवश्यकता है? एक ही शरीर से यह सब कुछ क्यों सम्भव नहीं? एक अवस्था तक यह बात सम्भव नहीं है। नये नये पाठ पढने के लिये, नितान्त विभिन्न अनुभूतियों के लिये विचित्र प्रकार के शरीरों की भी आवश्यकता है। उन परिवर्तनों को एक ही शरीर में अनुभव करना असम्भव प्रतीत होता है। मिट्टी से घडा बनता है। उस घडे से काम लेना हो तो पकाना पडता है और पक्के घडे से फिर लोटा बनाना असम्भव है। उस मिट्टीको चूर्ण कर के बन सके तो भी बहुत बात है। यह एक दृष्टान्त है।

और मरने में तो मुझे कोई खराबी वाली बात दिखाई नहीं पडती। हमने देखा यह विकास आध्यात्मिक विकास की आवश्यकता है। और, जहां तक प्रमाण प्राप्त है, जहां तक लोगों के अनुभवों का सूक्ष्म अर्थात् प्रेत लोक से संचय किया गया है, यह बात निर्विवाद सिद्ध हो रही है कि मरना बिलकुल दुःखहीन क्रिया है। जैसे कोई बिस्तर में से सहज में फिसल जावे,

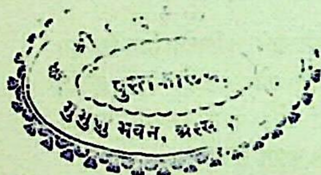
ठीक ऐसे ही । दिखाई पडने वाले परिवर्तन जिन से हम अनुमान लगाते हैं कि मरने वाले को कष्ट हो रहा होगा, वह प्राण के संकुचन से होते हैं। जाने वाला व्यक्ति तो सुपुप्ति की सी अवस्था में पहुंच जाता है !

बुढापा वास्तव में इससे कहीं अधिक दुःखदायी सिद्ध होता है। शरीर-इन्द्रिय-रूपी यन्त्र शिथिल होने लगता है परन्तु वह अनुभूति भी आवश्यक अनुभूति है । उस पूर्णत्व के पथ पर अग्रसर होने के लिये यह आवश्यक है और सहर्ष ग्राह्य होनी चाहिये इसकी चर्चा आगे करेंगे ।

और मृत्यु ? यह तो वास्तव में नूतन जीवन का सन्देश वाहक है। नये, सुन्दर यन्त्र की प्राप्ति का पूर्वरूप है। उस यन्त्र को हम नये तरीके से ढाल सकेंगे और उस के द्वारा नूतन अनुभव करते हुए आध्यात्मिक विकास के पथ पर अग्रसर हो सकेंगे । *

———

* देखिये परिशिष्ट पुनर्जन्म ।



: १ :

मोक्ष ।

मोक्ष के लिये मनुष्य लालायित होते हैं। जरा-मरण से छुट्टी पाये, आवागमन से छुटकारा हो-संसार चक्र से निकल जाये-यही आध्यात्मिक साधना का, ज्ञान, वैराग्य, योग, तप, संयम-सभी का, एक मात्र लक्ष्य कहा जाता है। मैं तो इसे और ही तरह से देखता हूं।

मोक्ष-छुटकारा-तो मेरी दृष्टि में ऋणात्मक-नेगेटिव्ह-भावना है। लड़का सोचे कि जितनी जल्दी हो सके इस पाठशाला से छुट्टी पाऊं; ठीक वैसी ही । सोचने योग्य बात तो

है कि विद्यार्थी जिस विद्या के उपार्जन के लिये—जिस संस्कार के लिये आया है, उसे शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करे । फिर वह स्कूल में रहे तो, उसके बहिर रहे तो कोई अन्तर वाली बात दीखती नहीं । आखिर अध्यापक भी तो स्कूल में आते ही हैं और बड़े शौक से आते हैं । यहां जो सोचने योग्य बात है वह यह कि उस आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा को हम प्राप्त करें देरी से नहीं, जल्दी प्राप्त करें । वह प्राप्त हो गयी तो एक बार क्या लाख बार भी इस संसार में आना जाना पड़े, तो भले ही । उस में घबराने की कौनसी बात है ?

जो विद्यार्थी पाठशाला से भागना ही पाठशाला में आने का उद्देश्य समझता है वह पाठशाला को जेलखाना मानता है, उससे घृणा करता है तो उसकी दीवारें, डेस्क और मास्टर भी उसे खाने को दौड़ते हैं। जितनी देर उसे वहां काटनी होती है वह परेशानी में बिताता है और यदि वह घृणा की द्वेष की भावना दृढ़ हो जाती है, वही भावना उसे फिर फिर खींच कर वहां लाती है।

संसार से डरने की आवश्यकता नहीं और न इससे आसक्ति ही करने की जरूरत है । इस संसार का जो मंगल-मय प्रयोजन है उसे पहिचानना चाहिये । उसे पहिचान

लेने से व्यक्ति अपनी परिस्थिति से सामञ्जस्य लाभ करता है। भीतर शान्ति रहती है और वह अपनी परिस्थिति को भी सुन्दर करना चाहता है।

जेलखाने को कैदी सुन्दर बनाने का यत्न नहीं करते, परन्तु समझदार विद्यार्थी तथा अध्यापक तो पाठशाला को सुन्दर, सुचारु और भविष्य में आने वालों के लिये अधिक उपयोगी बनाने का यत्न करते ही हैं। ठीक ऐसी बात यहां पर* घटती है। आज तक यही भावना रही कि संसार से भागना चाहिए, यह डाकिनी है, खा जायेगी, समाज के उत्कृष्ट व्यक्ति संन्यास धर्म का अवलम्बन लेते रहे; छोड़ने की धुन रही और समाज भी पतन के गड्ढे में गिरता गया। जो छोड़ने की हिम्मत न रखते थे वह अपने भाग्य को कोसते थे—कोसते हैं और मनौती मनाते हैं कि हम भी इस जंजाल से भागें। ऐसे व्यक्ति अनेकानेक आज भी मिलते हैं।

हम यदि यहां के कोर्स को भली भान्ति पढ़ लेंगे तो हमें फिर से कोई यहां भर्ती करने का नहीं। फिर हम भर्ती होंगे तो अध्यापक बन कर पूर्ण हो कर और उस पूर्णत्व में बाह्य सुख

---

* हिन्दु समाज में।

तथा दुःख, दोनों में, उस आनन्द की सतत अनुभूति होगी। दुःख की योग्यता से—दुःखानुभूति के सामर्थ्य से, ही हम परे हो गये होंगे।

यह संसार उस मंगलमय योगेश्वर की शिवस्थली है। इससे घृणा करना पाप है। मृत्यु इस में से विराम का चिन्ह है जो नूतन प्रवेश को—नवीन जीवन को—आवाहन मात्र है।

यह दृष्टि है जो व्यक्ति को निर्भय कर सकती है। यह सत्य का दर्शन है, इस स्थूल क्षेत्र में।

: १० :

जरा-मरण-मोक्ष।

जरा-मरण-मोक्ष—बुढ़ापे तथा मृत्यु से छुट्टी तो हमें अवश्य पानी है ही ? यह संसार क्लेशमय है, इस संसार में कौन पच पच कर मरना चाहेगा ? शास्त्र भी तो पुकार कर कहता है "जरा-मरण—मोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये" 'हेयं दुःखमनागतम्'?

मैं ने जो पीछे के प्रसंगों में कहा उसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हम इस संसार से, बुढ़ापे अथवा मौत से लगाव रखने लगें। कोई विद्यार्थी यदि स्कूल से आसक्ति रखने लगे तो वह आगे बढ़ने का यत्न ही न करेगा; प्रधान काम तो

पढ़ना है और उसके लिये स्कूल की उपयोगिता है, बस इतना समझना चाहिये। प्रधान कार्य इस संसार में आध्यात्मिक विकास है और उसके लिये जरामरण की, संसार की, एक हद तक अवश्य उपयोगिता है। मैंने तो कहा जब वह कार्य पूरा हो जायेगा तो जरामरण की स्वयमेव—अपने आप ही—निवृत्ति हो जायेगी। उसके लिये उतावले होने की क्या आवश्यकता है ? यह अवश्यम्भावी ही है।

आध्यात्मिक विकास की अवस्था ऐसी अवश्य है जब बुढ़ापा व्यक्ति को दबाता नहीं है। इन्द्रियां शिथिल नहीं होती हैं। व्यक्ति यौवन को सतत प्रतीत करता है। बूढ़े होने का कारण हमारे शरीर में उतना नहीं है—मेरी समझ में तो शरीर में बिल्कुल नहीं है, प्राण में है। शरीर की जो नयी सेलें बनती हैं वह बुढ़ापे में भी नयी ही होती हैं—युवा अवस्था की सी होती हैं। बूढ़े होने की आवश्यकता हमारे जातीय मन+ में घर कर चुकी है और वह प्राण को प्रभावित करती है। क्या आप को ज्ञात नहीं कि साधारणतया सात वर्षों में शरीर में एक भी पुराना अणु नहीं रह जाता, सारे शरीर का पूरा ही फिर बदलाव हो जाता है ? ज्यों ही नये

+ रेशियन कानशसनेस।

शरीर ग्रहण करने की आवश्यकता न रहेगी और हमारे प्राण तथा शरीर में पूरा सामंजस्य हो जायेगा, प्राण में शरीर को भली भान्ति बदलने की योग्यता आ जायेगी और शरीर में प्राण की आज्ञा के पालन करने की पूर्ण क्षमता, तो मृत्यु आवश्यक न रहेगी। यह व्यक्ति-गत साधना से ही नहीं; एक समय ऐसा आयेगा जब मानव विकास का क्रमिक प्रवाह इस योग्यता को सभी में पैदा कर देगा। जब बुढ़ापा नहीं तो मृत्यु कहां? हम अमर होंगे, इस शरीर में। संकल्प से ही हम इस देह का त्याग करेंगे जब करेंगे।

हम आत्मा में आगे ही अमर हैं; हम बुद्धि में, मन में, प्राण में तथा शरीर में भी अमर होने को जा रहे हैं। यह हमारा उज्ज्वल भविष्य है। यह कल्पना मात्र ही नहीं, विचार करने से यह एक पक्की सम्भावना प्रतीत होती है। काल की तो कुछ गणना है नहीं। यह है वास्तव में जरामरणमोक्ष-नितान्त मोक्ष। साधक साधना के द्वारा इस अवस्था को अपने में जल्दी ला सकता है। उसे लम्बे काल तक प्रतीक्षा नहीं करनी होगी, जब कि विकास के क्रम में यह स्वयं घट जाय।

अध्यात्म विकास

जब हम जानते हैं कि आध्यात्मिक साधन साधक के शरीर को शुद्ध करता है और नूतन प्राण के प्रवाह को प्रेरित करता है, तो इसी साधन की पराकाष्ठा जिसमें न केवल प्राण विशेष क्रियाशील ही होता है, अपितु आमूलचूल अपने स्वभाव को बदल डालता है, जिसमें हमारा सुप्त मन भी कायापलट पा जाता है और मृत्यु की आवश्यम्भाविता का संस्कार भी निकल जाता है। वह साधन जिस में अतिमानुषी शक्ति योग "अहं" से लेकर तन पर्यन्त पूरा कायापलट कर—दिव्य कर दे—शरीर से भी बुढ़ापे तथा मृत्यु के बीजों को निकाल दे तो इस में क्या विस्मय ?

क्या आज तक किसी साधक ने इस पद को प्राप्त किया है ? कहना कठिन है परन्तु अन्तरात्मा की पुकार यह है अवश्य। 'यह संभव है !'

———



: ११ :

शुभाशुभ

(१)

अशुभ को साधारण भाषा में पाप और शुभ को पुण्य कहा जाता है। हमें अशुभ से डरना सिखाया जाता है और शुभ का संचय करना। अधिक आवश्यक तो यह है कि हम शुभ तथा अशुभ दोनों का विकास में जो स्थान है उसे समझें, और स्थान दोनों का ही है, इसमें सन्देह नहीं; यदि न होता तो वह होते ही क्यों ? उनके चक्कर में मनुष्य डाला ही क्यों जाता ? वह जगज्जननी हमारी परमकल्याणकारिणी है, उससे ऐसी सम्भावना करनी कठिन है।

शुभ तथा अशुभ दोनो आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक हैं। अशुभ के बिना शुभ भी शुभ नहीं रहता और शुभ के बिना अशुभ अशुभ नहीं रहता। जिन व्यक्तियों में अभी शुभ की प्रतीति करने की योग्यता नहीं है वह अशुभ के द्वारा ही अपना विकास करते हुए एक दिन शुभ को प्राप्त करते हैं। एक व्यक्ति जिस में द्वेष की मात्रा खूब है वह उसी द्वेष के द्वारा अपने मनोमय कोष * में तीव्र तरंग उत्पन्न करने की योग्यता पैदा कर रहा है। सीधी बात है तमोगुण से सीधा सत्त्व गुण में प्रवेश असम्भव है। रजोगुण का उदय होता है और फिर धीरे धीरे सत्त्व प्रबल हो पाता है। सुस्ती तो क्रिया से दूर होती है और एक दम से उच्च क्रियाओं की योग्यता कैसे हो ? पहले तो अपने और दूसरों को तोड़ने फोड़ने वाली ही क्रियायें होंगी।

मानव जाति के विकास पर नज़र डालें तो भी यही बात दिखाई देती है। असभ्य अवस्थावाली जातियां अशुभ करते करते, मारपीट करके, दूसरे उत्पात करके, धीरे धीरे ही शुभ की ओर आई हैं। और अभी पूर्णतया आई भी हैं, इसमें सन्देह है। वर्तमान युद्ध इस बात की साक्षी है कि मनुष्य के

* देखिये परिशिष्ट पुनर्जन्म—२,

हृदय ने अभी अशुभ का अतिक्रमण नहीं किया, इसमें द्वेष की अग्नि जोरों से जलती है और स्वार्थ से वह पुष्ट की जाती है। इस में सन्देह नहीं कि हम मस्तिष्क से उस शुभ अवस्था की कल्पना अवश्य करने लगे हैं। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि मानव जाति के विकास में—उसकी शक्ति तथा मस्तिष्क के विकास में, इतना ही क्या परस्पर प्रीति के विकास में भी, युद्ध ने सहायता न की है? जहां एक ओर द्वेष भटकता है वहीं पर उसी द्वेष के निर्यातन के लिये दूसरों से मित्रता करनी पडती है और त्याग करना पडता है। विचित्र लीला है इस विकास की, अशुभ भी धीरे धीरे व्यक्ति में शुभ की योग्यता ले आता है। *

मैं ने कहा है कि अशुभ की भी व्यक्ति के विकास के लिये एक अवस्था में आवश्यकता है। उस तामसी कायर से जो कुछ भी करने के योग्य नहीं वह डाकू अच्छा है जो बहादुरी से, चातुरी से कुछ कर तो सकता है। वह विकास के पथ में आगे है उस कायर से जिसमें अभी तक शक्ति का

---

* अशुभ दुःख का कारण होता है। यह दुःख व्यक्ति को सचेत करता है और समय आने पर व्यक्ति अपने को अशुभ से ऊपर उठा लेता है।

उदय ही नहीं हुआ। वह तो अभी सोता ही है। यह डाकू जग गया है, वेग से चल रहा है यद्यपि ऊंची दृष्टि से उलटे रास्ते पर; परन्तु वह ठोकर खाएगा, लौटेगा और उतनी ही तेजी से; और दूसरे रास्ते में भी औरों से आगे निकल जाएगा इतिहास इसकी साक्षी भी देता है।

अशुभ का भी व्यक्ति के और समाज के विकास में स्थान है। इस बात को पहचानने की जरूरत है। अशुभ से घृणा करने से भयभीत होने से, वह हमें दबाता है। अशुभ से उदित होते हुए शुभ को पहचानना और उसे प्रोत्साहित करना—यह तरीका है आगे चलने और चलानेका।

(२)

और शुभ का भी स्थान है। आध्यात्मिक विकास के क्रम में इसका दर्जा अशुभ से ऊंचा है। परन्तु यह भली भान्ति जान लेना चाहिये कि यह दोनों बहुत दूर तक साथ साथ चला करते हैं। धीरे धीरे अशुभ शुभ में परिवर्तित होता

चला जाता है। व्यक्ति की कमजोरियां और बुराइयां उसकी विशेपतायें और सद्गुण बन जाते हैं। बुराई में सामर्थ्य है; केवल मात्र उसके प्रवाह की दिशा को बदलने की आवश्यकता है। वह भलाई बन जाएगी।

शुभ के द्वारा व्यक्ति में सत्त्व का उदय होता है—मति निर्मल होती है और हृदय निर्भय होता है। शुभ के द्वारा समाज में शान्ति तथा समृद्धि होती है। परन्तु शुभ—अशुभ की परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया चलती है। शुभ में भी अटक जाना व्यक्ति का उद्देश्य नहीं है। हमें तो शुभ तथा अशुभ दोनों से परे जाना है; पाप तथा पुण्य दोनों श्रृंखलाओं के पार हो जाना है। वह हमें बांध न पाएंगी। पार जाने के लिये दोनों को पहचनना और उनको समझना आवश्यक है। इस अनुभूति के बिना व्यक्ति ऊपर नहीं उठ सकता।

पशु की अवस्था में शुभाशुभ का भेद ही ज्ञात नहीं होता। असभ्य—जंगली मनुष्य कुछ भेद को समझता है और अशुभ में प्रधानतः प्रवृत्त होता है, आगे बढ़ने पर शुभ प्रधान होता है और सिद्धावस्था में * वह दोनों से पार हो जाता है। उसके

---

* विश्वास की ऊंची अवस्था में।

लिये न कुछ शुभ है न अशुभ। यह आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा है। यहां तक पहुंचने के लिये ही शुभ की आवश्यकता है। ऐसा जानने से शुभ में भी आसक्ति नहीं होती है। इस बात को अच्छी प्रकार से जानना व्यक्ति में समता ले आता है। दोनों के भीतर योगेश्वर की योगलीला दीखने लगती है।

शुभ तथा अशुभ की एक परिभाषा मैं ने की थी-शुभ पुण्य है और अशुभ पाप। परन्तु पुण्य क्या है और पाप क्या? साधारणतया, जिसका फल सुख हो, इस जन्म में अथवा आगे, वह पुण्य है और इसके विपरीत पाप।

इससे परे की एक दृष्टि है। जो आध्यात्मिक विकास में सहायक हो वह पुण्य है और जो उसमें बाधक हो वह पाप है, यह आध्यात्मिक साधकों की परिभाषा है। परन्तु हमने देखा कि सारी ही प्रगतियां सहायक हैं। उसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक प्रगति प्रत्येक अवस्था में बराबर रूप से सहायक है। किसी अवस्था में कोई प्रवृत्ति सहायक है और किसी में कोई। यह तो व्यक्ति और उसकी अवस्था पर निर्भर है। अर्जुन के लिये शुभ यही था कि वह

युद्ध करें परन्तु सुदामा के लिये अपनी ब्रह्मचर्या ही शुभ थी ।

जब हम इस दृष्टि से देखते हैं तो शुभ स्वधर्म में बदल जाता है। अध्यात्मविकास की मांग ही स्वधर्म है । इसकी चर्चा हमें फिर करनी होगी ।

आध्यात्मिक दृष्टि से हम पुण्य तथा पाप में कोई महान् अन्तर नहीं देखते। उन दोनों की उपयोगिता को समझते हैं और आगे बढ़े चले जाते हैं । कहा है Hate not the Sinner; hate the sin * वस्तुतः न पाप से घृणा करो न पापी से; केवल उन दोनों में परमदयारूपी माता की विकसित होती हुई—अर्ध विकसित शक्ति को पहिचानो । निर्भय रहो ।

———

* पापी से घृणा न करो, पाप से घृणा करो ।

: १२ :

दुःख

मैं ने दुःख के विषय में पहले लिखा है और सुख के विषय में बाद। दुःख ही सब से बड़ी समस्या है। इस विश्व में दुःख को देखकर, हृदयद्रावक आर्तनाद को सुनकर और रणचण्डी के नरमेध को लेख कर कई लोग नास्तिकता का दम भरने लगते हैं। 'ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं हो सकती, अन्यथा इतने दुःखमय जगत् की रचना ही क्यों होती ? यदि वह सर्वशक्तिमान् होता तो एक सर्वतः सुखमय विश्व की रचना करता'। और इसका उत्तर देनेवाले, अपने

को आस्तिक कहनेवाले, कहते हैं—' दुःख तो मनुष्य के अपने कर्मों का फल है। इस में भगवान् का क्या दोष ? यह उत्तर मुझे तो बिलकुल थोथा दीखता है। आखिर, ऐसे विश्व की रचना करना जिस में हम बुराई कर सकते हैं और फिर उसके फलस्वरूप दुःखी होते हैं—यह भी तो कोई भली बात नहीं। भगवान् का नहीं यह शैतान का काम होगा।

हम दुःख की समस्या को समझने का और रूप से प्रयत्न करेंगे। वास्तव में दुःख क्या है और उसका हमारे आध्यात्मिक विकास में कोई स्थान हो सकता है या नहीं ? दुःख आन्तरिक प्रतीति है—भीतर से होनेवाली प्रतिक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति के साथ यह बदलती है। एक ही घटना एक व्यक्ति में सुख की तरंग पैदा कर देती है और दूसरे को दुःखी कर देती है। एक की विजय होती है तो दूसरे की पराजय। यदि अंग्रेज रूसी तथा अमेरिकन लोग आज हर्षविभोर हो रहे हैं तो जर्मन शोकसागर में डूब रहे हैं। औचित्य का कोई प्रश्न नहीं ; घटना का प्रश्न है। एक ही घटना एक दृष्टि-कोणसे सुखमय है और दूसरे से दुःखमय है।

शायद यह समझा जाय कि कुछ घटनायें तो सभी के लिये दुःखमय हैं, जैसे रोग और मृत्यु। हमें अपने दृष्टिकोण को

और विस्तृत करना होगा। रोग में रोग के जीवणु पनपते हैं; क्या रोग उनके लिये जीवनस्थल और सुख का स्रोत नहीं है? किसी की मृत्यु तो इस लोक में कई मनुष्यों के लिये सुखमय हो जाती है। और जो मृत्यु के द्वारा रोग से मुक्त हो जाता है उसके लिये तो निश्चय ही वह सुखमय होती है। कहने का प्रयोजन यह है कि यदि हम अपने संकुचित, व्यक्तिगत, केवलमात्र मानुषी दृष्टिकोण से ऊपर उठ जाय तो दुःख हमें एक व्यक्तिगत प्रतीति प्रतीत होती है। जब हम कहते हैं कि जीवन दुःखमय है तो मतलब यही होता है कि हमारी दृष्टि से—हमारे लिये।

इतने मात्र से भी दुःख की समस्या हल नहीं हो जाती। किसी के लिये भी यदि दुःख है तो क्यों? दुःख की भी उपयोगिता है, हमारे अध्यात्मविकास के लिये। जैसे पौदों की वृद्धि के लिये गर्मी की भी आवश्यकता रहती है, जैसे मानुषी स्वास्थ्य वृद्धि के लिये ऋतु परिवर्तन की आवश्यकता रहती है, ऐसे ही हमारी वृद्धि के लिये दुःख की उपादेयता है।

दुःख की चोट सहन करके ही व्यक्ति में चेतना जागृत होती है। कठिन समय आने पर ही हमारा छिपा हुआ

सामर्थ्य प्रकट होता है। विना प्रश्न पैदा हुए बुद्धि कैसे पनप सकती है? तमस् से रजोगुण में प्रवेश दुःख की प्रखर किरणों के ही पड़ने से होता है और फिर रजोगुण से यही दुःख व्यक्ति को सत्त्व की ओर प्रेरित करता है। देखियेगा, सहानुभूति एक सात्त्विक भाव है। जिस व्यक्ति ने स्वयं दुःख प्रतीत किया है वही दूसरे दुःखी के साथ सहानुभूति प्रतीत कर सकता है और फिर उसकी सहायता में प्रवृत्त हो सकता है। दुःख चरित्र निर्माण में, व्यक्ति में उत्साह तथा सहन शक्ति पैदा करने में अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

दुःख को हम अवांच्छनीय कह कर उससे भागते हैं, और जितना भागते हैं उतना ही वह हमारा पीछा करता है। कारण, वह हमें छोड़ जाय तो हम कच्चे रह जाएंगे, हमारा विकासक्रम बीच ही में रुक जाएगा। जगद्धात्री माता का वह प्यारा सन्देशवाहक है, कारिन्दा है। जीवन में उसको उचित स्थान देना ही चाहिये। किसी सन्त ने कहा है:—

'मोहे अकेला जानके कर दीन्हो दुःख साथ।'

———

: १३ :

सुख

हमारी सभी प्रवृत्तियों के पीछे सुख प्राप्त करने की इच्छा छिपी रहती है, ऐसा कहा जाता है। सुख को बटोरना, ऐहिक तथा पारलौकिक यही जीवन का उद्देश्य समझा जाता है। परन्तु लीला विचित्र है। जो सुख की खोज में जितने मतवाले होते हैं सुख उतना ही उनसे दूर भागता है। प्रत्येक प्रतीति जिस में हम सुख की तीव्र आशा रखते हैं, जिस के लिये वे खूब दौड़ धूप करते हैं, वह प्राप्त होते ही सुख से शून्य होने लगती है।

एक निर्धन व्यक्ति जौ की रोटी पाता है, सोचता है कि गेहूं की रोटी खाने में क्या मज़ा आता होगा। विशेष पुरुषार्थ करता है। रोज की चवन्नी अधिक कमाने लगता है। गेहूं की रोटी प्राप्त होती है। पहले दिन वह उस गेहूं की रोटी को खा कर हर्षविभोर हो उठता है, मानो कृतकृत्य हो गया है। दूसरे दिन, तीसरे दिन भी विशेष मज़ा आता है, परन्तु वह प्रतीति दिन प्रतिदिन क्षीण होने लगती है। गेहूं की रोटी कुछ दिनों के उपरान्त विशेष आनन्द का कारण नहीं होती। पूरी खाने की लालसा जागृत होती है और वही किस्सा पूरी के साथ दोहराया जाता है। दुनियां के भोगों का यही जीवन चरित्र है। भोगते ही भोगते भोग का भोगत्व लुप्त हो जाता है। प्रत्येक भोग अपने साथ बढ़ती हुई लालसाओं को लाता है। भोगते भोगते इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। भोग का सामर्थ्य नहीं रहता परन्तु मन नहीं मानता। राजा ययाति की तरह यदि किसी का यौवन मिल जाय तो लेने को व्यक्ति तैयार हो जाय। कहा भी है:—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः। *

---

* भोगते भोगते भोग समाप्त न हुए, हम ही समाप्त हो गये।

तृष्णा—प्राप्ति—सुख—तृष्णा का यह अन्तरहित चक्कर है, जिस में आंखे मूंदे हुए कोल्हू के बैल की तरह मनुष्य घूमता रहता है।

यह एक चक्कर है, इस में सन्देह नहीं। परन्तु क्या यह बेकार का चक्कर है? बैल का घूमना सरसों में से तेल निकाल देता है। क्या यह मानुषी परिभ्रमण भी किसी काम का है, या बकार परेशानी ही?

वास्तव में यह व्यर्थ नहीं। जो पुरुषार्थ हम अपनी तृष्णा की पूर्ति के लिये करते हैं वह हम में नये ज्ञान तथा नई शक्ति को प्रकट कर देता है। इस तृष्णा के कारण ही दुनियां की बड़ी बड़ी बातें सम्भव हो सकी हैं। विज्ञान की उन्नति में सुख प्राप्ति की लालसा बहुत महत्त्वशाली रही है। यदि सुख की इच्छा को मानव समाज से निकाल दिया जाय तो वह पशुत्व की अवस्था को प्राप्त कर लेगा।

सुख का मूल तृष्णा है और दुःख का भी। इसके दुःख का कारण होने से ही इसको कुचल डालने के लिये धर्म उपदेश देते हैं। महात्मा बुद्ध ने इसको 'तण्हा' कहा और संसारचक्र का इसे ही कारण बताया है। इस संसार की गति में अवलम्बन तृष्णा-तण्हा ही है। परन्तु क्या इसे कुचल

डालना होगा ? इसको असमय में कुचलना अपने विकास को रोकना है।

न केवल सुखेच्छा से व्यक्ति में ज्ञान तथा सामर्थ्य का उदय होता है, सुख की अनुभूति उसके चैतन्य को विकसित कर देती है। सुख की प्रतीति, अनुभूति की योग्यता बढ़ाती है। दृष्टिकोण भी विकसित करती है। वह व्यक्ति जिस ने सुख का उपभोग नहीं लिया, उसका जीवन अधूरा है और उसका भी जिसने कभी दुःख अनुभव नहीं किया। दुःख भी आवश्यक है और सुख भी।

बाह्य सुख को प्राप्त करने की इच्छा और दुःख से भागने की प्रवृत्ति विकास की एक सुदृढ़ प्रेरणा है। इन्हीं से व्यक्ति सचेत होता है। जब व्यक्ति का चैतन्य बाह्य सुख का अनुभव करता हुआ जग उठता है, आन्तरिक सुखस्रोत को पहचानने के योग्य हो जाता है तो यह इच्छा * स्वयं शान्त होने लगती है। जब व्यक्ति को कर्तव्य का बोध हो जाता है और उसे करने में प्रवृत्ति होती है तो सुख की लालच की आवश्यकता नहीं रहती, न दुःख के भय की। यह दोनों विकास की उस अवस्था में शान्त हो जाते हैं। बाह्य सुख तथा दुःख की प्रतीति भी मौन हो जाती है।

* बाह्य सुखोपभोग की इच्छा।

: १४ :

कामक्रोध

जिस प्रकार से हमने शुभाशुभ तथा दुःख और सुख को समझने का प्रयत्न किया है, इसी प्रकार से हमें काम तथा क्रोध को भी समझना है। इसमें सन्देह नहीं कि हमको इन दोनों का अतिक्रमण करना है, परन्तु इनका प्रयोजन क्या है, आध्यात्मिक विकास में यह क्या पार्ट खेलते हैं, यह तो समझना ही चाहिये।

जैवी जगत् में कामोपभोग का आनन्द प्रकृति की ओर से दिया हुआ मूल्य है, प्रजनन क्रिया के लिये। कई जीवों

के लिये प्रजनन इतना महंगा पड़ता है कि गर्भाधान करना उनके लिये मृत्यु का कारण हो जाता है। मनुष्य में आकर काम का प्रावल्य होता है। जितना मनुष्य इस में खिंच जाता है, नियमों तथा अवधियों का उल्लंघन करता है, उतना कोई पशु नहीं करता। यह अग्नि प्रचण्ड होती है मनुष्य में, और इसके साथ ही साथ क्रिया की शक्ति भी बढ जाती है। काम जीव की मौलिक शक्ति है। इस शक्ती की जागृति के बिना मनुष्य प्रबल क्रियाओं के लिये समर्थ नहीं होता। नामर्द साहस से तथा शक्ति से हीन हुआ करते हैं। बड़े बड़े सन्त किसी अवस्था में बड़े कामी रहे हैं।

कहने का तात्पर्य इतना ही है, यह काम व्यक्ति में गति पैदा कर देता है। प्रजनन के अतिरिक्त इतना ही इसका प्रयोजन है। यह गति सब से वेगवती प्राणमय कोश में होती है और उससे कम मनोमय कोश में। आध्यात्मिक विकास की आगामी सीढी है इसी गती को ऊपर ले जाना, जमी हुई शक्ति का विशोधन करना, तमोरजस् से उसे सत्त्व में परिवर्तन कर देना। इसी क्रिया करनेवालों को ऊर्ध्व रेतस् कहते हैं। इसी को अंग्रेजी मनोवैज्ञानिक सब्लीमेशन आफ सेक्स कहते हैं।

क्रोध काम का ही दूसरा स्वरूप है। भीतर होनेवाली गति में अन्तर अवश्य है परन्तु दोनों एक दूसरे के अति-समीप हैं। जैसा व्यक्ति का उन्मथन काम-वेग से होता है वैसा क्रोध से भी, परन्तु इन दोनों में काम मौलिक है, इस में सन्देह नहीं।

यह न समझना चाहिये कि मनुष्य की चेतना के विकास में क्रोध कोई काम ही नहीं करता। मनुष्य की पहली क्रियायें क्रोध से प्रेरित हुआ करती हैं, असभ्य अवस्था में, बालकपन में। इसके प्रमाण मिलने कठिन नहीं। काम की प्रेरणा अतिसीमित प्रेरणा है। * क्रोध की प्रेरणा उससे कहीं विशाल है। इसी प्रेरणा से व्यक्ति तमस् से रजस् में प्रवेश करता है और फिर इसी क्रोध से होनेवाली हानि (अपने को अथवा दूसरों को) व्यक्ति को क्रोध से परे ले जाने लगती है; परन्तु वह क्रिया का सामर्थ्य जो क्रोध के कारण उत्पन्न हो गया था—वह कर्म करने की योग्यता—तो बनी रहती है। जब क्रोध अपना काम कर चुका तो उसे भी निवृत्त होना ही चाहिये। यही अतिक्रमण है।

---

* केवल ऊपर लिंग के सम्बन्ध में उम्दूत होती है।

यदि हम इन बातों को न समझकर क्रोध को दबाने का यत्न करते हैं, तो सम्भव है कि हम क्रोध के साथ ही उस शक्ति को भी कुचल डालें, और अधिक सम्भव यह है कि हम अपने जीवन में एक दबाव पैदा कर दें, दब्बू और कायर बन जाएं। क्रोध के अतिक्रमण की भी आध्यात्मिक विकास के क्रम में आवश्यकता होती है; दबाने की नहीं। अध्यात्म-विकास की एक अवस्था में यह शान्त हो जाता है। *

---

* जो कुछ हमने काम तथा क्रोध के विषय में कहा है यह सारा ही दूसरी नीची वृत्तियों, द्वेष, असत्य, दम्भ, लोभ, मोह इत्यादि पर लागू होता है। उन सब का भी चैतन्य के विकास में एक अवस्था तक योग होना आवश्यक है।

: १५ :

अटपटा मार्ग

यह मार्ग अवश्य अटपटा है। विकास की धारा व्यक्ति के अन्दर सभी पक्षों में समान रूप से परिवर्तन नहीं करती, उसकी ज्ञान, भाव तथा संकल्प की शक्तियां बराबर बराबर ही विकसित नहीं होती चली जातीं। कभी एक और कभी दो सब से आगे बढ़ जाती हैं; विषमता होती है। पिछड़ी हुई शक्तियां भी आगे बढ़ती हैं और बहुत आगे निकल जाती हैं। यह मानो ऐसी दौड़ है जिस में तीनों के तीनों बराबर में आते हुए दिखाई ही नहीं पड़ते। केवलमात्र एक को देख

कर यह आँकना तो उचित न होगा कि अमुक आगे बढ़ी हुई अवस्था है।

इस वर्तमान काल में एक ओर मस्तिष्क का हम इतना विकास देख रहे हैं। विज्ञान तो आशातीत उन्नति करता चला जा रहा है। उसके साथ ही साथ हमारे विचार, हमारे आदर्श बहुत ऊंचे होते जा रहे हैं। विश्ववर्ती संघीकरण की योजनायें हो रही हैं। क्रिया का सामर्थ्य भी बहुत है। दोनों के लिये युद्धग्रस्त जनता ने जितने त्याग किये हैं और जिस दृढ़ता से युद्ध को चलाया है वह सर्वथा सराहनीय हो रहा है। इतना होने पर भी हमारी भावमय प्रकृति तटस्थ दिखाई पडती है। स्वार्थ और उसके फलस्वरूप द्वेष और उसकी सिद्धि के लिये दम्भ यह सभी सारे जगत् को आज भी एक ज्वालामुखी के शिखर पर धरे हैं, इस न्यूनता को देख कर यदि कहा जाय कि मानवसमाज पिछड़ रहा है, अधोगति को प्राप्त हो रहा है, तो ठीक न होगा। मेरी समझ में तो आनेवाले कदम के लिये तैयारी है। जिन यातनाओं में से मानवजाति निकल रही है—जिस घोर तपस्या को कर चुकी है—वह उसके हृदय का शोधन कर देगी। यदि इतने से नहीं होगा तो और तपस्या की आवश्यकता होगी, परन्तु हम चल उसी

ओर रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं—और समृद्धिशाली ज्ञान तथा विकल्प के साथ समृद्ध तथा समुन्नत भाव का सम्मिलन होगा।

परन्तु, क्या इस बात के लिये कोई प्रमाण है कि मानव समाज इस युद्धमयी तपस्या को करते करते अपने को ही भस्म न कर डालेगा? निःसंदेह, इसके लिये प्रमाण मौजूद नहीं। यदि ऐसा है तो यह विकासवाली बात सारी की सारी ही निर्मूल हो जाती है। हम विकास नहीं, विनाश की ओर जा रहे हैं ऐसा समझना चाहिये। आज से पूर्व, यह सत्य है, कि इन्हीं कारणों से एटलान्टिस का सारे के सारा महाद्वीप नष्ट होगया और उसके साथ ही साथ उसकी महान् सभ्यता। यदि ऐसी बातें सम्भव हैं तो विकास वाली बात कैसे सिद्ध हो सकती है?

प्रश्न समुचित है।

मानुषी जीवन में हम देखते हैं कि व्यक्ति को एक अवस्था में आ करके शरीर का परित्याग करना पड़ता है; परन्तु वह परित्याग उसकी चेतना के विकास को नष्ट नहीं करता। आगामी जन्म में व्यक्ति उसी विकास की ओर आगे ले जाने का यत्न करता है।* ठीक इसी प्रकार से जब बाह्य

* देखिये पीरीशिष्ट, पुनर्जन्म।

परिस्थिति तथा विकास के साधन किसी मानवसमाज अथवा जाति के लिये उपयोगी नहीं रहते, तब, या उनको बदला जाता है अथवा उचित समझा जाय तो उसको ही वहां से हटा दिया जाता है। वह विकास जो उसके मनुष्यों और जातीय चेतना ने प्राप्त किया था वह नष्ट नहीं होता । नई परिस्थिति में वह आगे बढ़ता है।

जिस प्रकार से व्यक्ति को अपने नये जन्म में बालकपन से होकर गुजरना पड़ता है—इससे भी पूर्व गर्भ में विभिन्न विकासक्रमानुगत आकृतियों में से होकर बढ़ना पड़ता है इसी प्रकारसे जाति अथवा समाज को भी अपने शैशव में गत विकास को दोहराना पड़ता है। परन्तु इस में विशेष परिश्रम नहीं पड़ता। समय तथा शक्ति अवश्य व्यय होती है; परन्तु इस के बिना कोई दूसरा उपाय नहीं । कब ऐसा होता है—कब किसी समाज अथवा जाति को हटाने की आवश्यकता होती है ? इसका निर्णय करती है अतिमानुषी शक्ति, जिस के हाथ में विकास की बागडोर है। मानुषी समझ से परे की यह बात है।

———

: १६ :

विनाश

अध्यात्मविकास के पथ में विनाश अखण्ड होता है। जैवी विकास में भी हम विनाश का एक विशेष स्थान देखते हैं। हजारों तथा लाखों की संख्या में बीज उत्पन्न होते हैं, उनमें से थोड़े ही उपयोग में आते हैं। और जानवर कितने ही मरते हैं, और मनुष्य भी। भगवान् संहारकर्ता रुद्र के रूप में अपना ताण्डव-नृत्य हर समय करते हैं।

हमने गतप्रसंग में देखा था कि किस प्रकार से आध्यात्मिक विकास की धारा विनाश को अछूती ही लांघ जाती

है। परन्तु विनाश की उपयोगिता क्या है यह अभी कहना बाकी है। अभी तो इतना ही समझा है कि विनाश बाधक नहीं होता है।

किसी वस्तु के निर्माण के लिये बनानेवाले में योग्यता चाहिये और बननेवाली वस्तु में योग्यता। अच्छे घड़े बनाने के लिये मिट्टी मली जाती है और बूटों के लिये चमड़ा कमाया जाता है। अच्छे अक्षर बनाने के लिये उन्हें बना कर मिटाया जाता है—इससे तो बनानेवाले में योग्यता बढ़ती है। कलम चल कर के ही ठीक चलने लगती है—यह बननेवाले की योग्यता-वृद्धि है।

इस रचना में विकास के क्रम में आकृति में परिवर्तन होता है; परिस्थिति में परिवर्तन होता है और भीतर चेतना का उन्मीलन होता है। आकृति में परिवर्तन के लिये प्रकृति के अणुओं में प्राण के प्रभाव को ग्रहण करने की योग्यता आवश्यक है और धीरे धीरे ही आ सकती है। निर्जीव प्रकृति ही धीरे धीरे सजीव शरीरों का अंश बनती है। इसके लिये बहुत बार बनाने और फोड़ने की आवश्यकता रहती है तभी वह उच्चोच्च सजीव शरीर में उपयोग के लायक हो पाती है।

दूसरी बात है बनानेवालों की योग्यता। बना बना कर ही इस योग्यता में वृद्धि होती है, इस में भी सन्देह प्रतीत नहीं होता। अतिमानुषी शक्तियां भी इन सभी क्रियाओं द्वारा अधिकाधिक योग्यता को प्राप्त करती हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

परिस्थिति का नितान्त परिवर्तन भी बहुत बार विनाश के बिना सम्भव नहीं होता। भिन्न भिन्न अनुभूतियों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के यन्त्रों की आवश्यकता रहती है और वह बिना विनाश के सम्भव नहीं।

समूचा परिवर्तन ही विनाश कहलाता है। आंशिक परिवर्तन तो पल पल हो रहा है। उसके बिना तो विकास असम्भव है। इसी को तीव्र वेग से ले जाने के लिये समूचे परिवर्तन की आवश्यकता होती है। यही विनाश का, मृत्यु का, रहस्य है।

प्रलय केवलमात्र विश्रान्ति है, वास्तविक विनाश नहीं। जिस प्रकार से सोने के उपरान्त सभी कार्यक्रम ठीक पहले की भान्ति चलने लगते हैं,* उसी प्रकार से प्रलयानन्तर सृष्टि में भी।

---

* देखें परिशिष्ट, पुनर्जन्म।

विनाश वास्तव में ह्रास नहीं है; केवलमात्र देखने में ह्रास है। नूतन निर्माण का यह आवश्यक, अनिवार्य पूर्वरूप है। परिवर्तन भी विकास का सहायक है, बाधक नहीं। शिव का ताण्डव उसकी आनन्दमयी लीला का अंग है और नई सृष्टि का सन्देशवाहक। इसीलिये तो अशिव वेष में भी शिव वास्तव में शिव—मंगलमय हैं!

: १७ :

युगातिक्रम ।

" यदि विकास जैसी कोई बात है तो हिन्दुजातिका इतिहास तो स्पष्टरूप से इसका निराकरण करता है ! सत्य युग से द्वापर, और द्वापर से त्रेता और त्रेता से कलि; यह तो स्पष्ट ही पतन की परम्परा दिखाई पड़ती है । धर्म अपने चरणों को एक एक कर के प्रत्येक युग में खोता चला जाता है और कलि में केवल मात्र दान ही बाकी रहा है । विकास जैसी कोई कल्पना मैं मानने के लिये तय्यार नहीं हूं ।" सिर हिला कर व्यक्ति ऐसा कहने को सिद्ध होता है ।

हमने देखा है कि जैवी जगत् को हम विकास की दृष्टि से देखें तो हमारी समस्याएं–रचनादि के विषय में–हल हो जाती हैं और विकासवाद के लिये हमे समुचित प्रमाण भी मिलते हैं। व्यक्ति की चेतना की दृष्टि से देखते हैं तो यही विकास आध्यत्मिक विकास बन जाता है। जैवी जगत् में जो आकृति में विकास होता है उसकी प्रेरणा का स्रोत भी दीख पडता है। सृष्टि रचना, दुख तथा बुराई की समस्यायें हल हो जाती हैं। बाल्कपन से यौवन, तथा यौवन से बुढापे की ओर बढने में व्यक्ति की शक्तियों का एक सीमा तक विकास होता चला जाता है और उसके उपरान्त जो ह्रास होता है वह भी नूतन विकास के लिये ही है, यह भी समझ में आ जाता है। भागवत दृष्टि से देखते हैं तो भी यह सृष्टि और उसकी सतत होनेवाली यज्ञमयी विकासलीला सहज स्वाभाविकी अपने में पूर्ण क्रिया दिखाई पडती है।

इसमें सन्देह नहीं कि पुरातन काल के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि उस युग में बुराई आज से बहुत कम थी। शारीरिक शक्ति आज से अधिक थी और कई एक विचित्र रचनायें वह लोग कर सकते थे जो आज के नवीन विज्ञान के आधार पर भी सम्भव नहीं है। ऋग्वेदादि साहित्य तथा उपनिषदादि

ग्रंथ उनकी आध्यात्मिक उड़ान का परिचय देते हैं, इस में भी सन्देह नहीं।

मुझे तो सत्ययुग वर्तमान मानवसमाज का बालकपन प्रतीत होता है—वह बालकपन, जिस में उसको अत्युच्च कोटि के अध्यात्म क्षेत्र में उच्चविकास को प्राप्त पथप्रदर्शक मिले थे। उस युग के ऋषि तथा मनु आदि किसी पूर्व विकास क्षेत्र में बहुत आगे बढे हुए मानव समाज के व्यक्ति थे और वर्तमान समाज के विकास को आरम्भ करने के लिये नियुक्त थे। जैसे बालक के शिक्षक अच्छे हों, बुद्धिमान तथा बालकहितेच्छु हों और बालक आज्ञाकारी हो तो वह सुख तथा शान्ति से रह सकता है, और कई बडे आश्चर्यजनक कार्य भी कर सकता है। परन्तु यदि वह युगप्रवर्तक नेता हम पर बने ही रहते तो हम बालक से रह जाते। न अपनी समझ होती, न अपना साहस। जैसे बालक को युवकत्व के फिर मनुष्यत्व के, पूर्ण विकास के लिये आवश्यक है कि उसको अपने पाँव पर खड़ा होने दिया जाय, ठोकर खाने तथा गिरने दिया जाय, इसी प्रकार मानव समाज के विकास के लिये आवश्यक था वह युगप्रवर्तक पूर्णाभावेन हमसे दूर हट जाएं। वह उच्च कोटि के ग्रन्थों में अपना ज्ञान छोड कर धीरे धीरे

हम से हटते चले गये; उसी का परिणाम यह हुआ कि हम सत्य से द्वापर तथा द्वापर से त्रेता और आज कलि में आ गये। इस के उपरान्त हम सत्य युग में प्रविष्ट होंगे।

आगे बढ़ने के लिये, भीतर की शक्तियों के विकास के लिये आवश्यक था ही कि हम अपने पाँवों पर खड़े हों और खड़े होना सीखने के लिये गिरना भी अनिवार्य होता है। परन्तु, यह गिरना आगामी खड़े होने का, दौड़ने का, पूर्वरूप है। यह संघर्ष, यह पुरुषार्थ—सारे के सारे प्रयत्न हमें ऊपर लिये चले जा रहे हैं। आगामी सत्य युग का श्रेय वर्तमान मनुष्य समाज को होगा, किसी बाह्य शक्ति को नहीं। अब ऋषि तथा मनु इसी मानव समाज में से उत्पन्न होंगे, बाहर से नहीं आएंगे और एक उच्च कोटि के समाज का निर्माण होगा।

उस पुराने समय का ज्ञान वास्तव में मस्तिष्क के क्षेत्र का ज्ञान न था। मस्तिष्क का ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है; वह आत्मस्फुरणात्मक ज्ञान था। पूर्णत्व के लिये विकास बुद्धि के क्षेत्र में भी होना चाहिये और वह तभी सम्भव है जब आत्मस्फुरणात्मक ज्ञान का अभाव हो। विद्यार्थि को यदि पुस्तक के नोट्स का हमेशा

सहारा रहे तो वह स्वयं सोच नहीं पाता, सोचे हुए ज्ञान की ओर दौड़ता है। न केवल वह सत्ताएं जो हमें आत्म-स्फुरणात्मक ज्ञान दे सकती थीं और सूक्ष्म रहस्यों को सहज में खोल देती थीं (क्यों कि उस समय उनकी आवश्यकता थी) अपितु वह आत्माएं भी, जिन्हों ने अपने शासन के द्वारा शान्ति तथा सुख का साम्राज्य स्थापित कर रखा था, हमारे ही कल्याण के लिये हमसे दूर हट गयीं। पशुओं में सहजबोध * बहुत तीव्र तथा उच्च कोटि पर होता है; परन्तु मनुष्य में ऐसा नहीं होता। कारण, विश्लेपणात्मक ज्ञान के उदय में यह बाधा है। यही मनुष्य का मनुष्यत्व है कि वह स्वयं सोच कर उन कार्यों को करने का यत्न करता है जिससे बुद्धि विकास को प्राप्त हो।

पुराने विज्ञान से बहुत कार्य सिद्ध होते थे, परन्तु वह उन अर्थों में विज्ञान न था जिन में आज का विज्ञान, विज्ञान है। सूक्ष्म का विश्लेपण करते हुए, कारण कार्य की परम्परा को ठीक समझते हुए आज विज्ञान चलता है। उस में युक्ति की

---

* बिल्ली की घ्राणशक्ति, गृध्र की दृष्टि तथा घोडे का पथज्ञान उदाहरणीय हैं। परन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य पशु से पिछड़ा हुआ है।

कड़ियां अटूट चलती हैं और फिर उस से विभिन्न कार्यों की सिद्धि होती है।

दर्शन के क्षेत्र में भी तर्क तथा युक्तिवाद वेदों तथा उपनिषदों का तरीका नहीं है। यह सीधी उड़ान है। तर्क तथा युक्तिवाद के विकास का समय बाद में आता है।

जब हम समाज के क्षेत्र को लेते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्ययुग के लोगों को समाज की जटिल समस्याओं का सामना ही न करना पड़ा था। जहां अभाव नहीं होता वहां सामाजिक खराबियां प्रकट नहीं होती है। वह युग अभाव का युग नहीं था। इस युग की समस्याओं में पड़ कर उस युग के भोले व्यक्ति यदि बिलकुल ही घबरा जाएं तो कोई विस्मय नहीं। वर्तमान युग की जातीय समस्याएँ, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याएं उन युगों से बहुत बढ़ी चढ़ी हैं। उनका हल हमें करना होगा और यही हमारे में नूतन शक्तिभाव तथा ज्ञान का संचार कर देगां।

युगातिक्रम भी आध्यात्मिक विकास पर नई दृष्टि डालता है। हम किधर जा रहे हैं? यह हम ने देख लिया है; हम कहां पहुंचेंगे, इसकी हमें अभी चर्चा नहीं करनी है। *

---

* देखिये, 'विकास की निश्रेणि'

: १८ :

यज्ञ

(१)

विकास के साथ यज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना यज्ञ के विकास की निष्पत्ति असम्भव है। विकास की शैली को एक रूप में समझने के लिये यज्ञ को जानना आवश्यक है।

प्रायः होम को ही यज्ञ समझा जाता है। होम में अग्नि में अन्नादि की आहुतियां मन्त्र पढ कर दी जाती हैं। यह आशा की जाती है कि इस प्रकार से होम किया हुआ अन्न देवताओं को प्राप्त होगा जिनके निमित्त यह आहुतियां दी

गई हैं। इतना मात्र ही नहीं, ब्राह्मणकाल के ऋषि तो होम को एक सुनिश्चित विज्ञान समझते थे, 'आवाहन करने पर देवताओं को आना होगा और यदि ठीक विधि से होम किया गया तो बलात् उनको यजमान का काम करना पड़ेगा।' इस प्रकार से किसी युग में देवताओं को प्रभावित करने का यह साधन था। ऊंचे लोक की आत्मायें, देवविकासक्रमानुगत आत्मायें आती भी होंगी, इस में सन्देह प्रतीत नहीं होता। किसी पुराने युग में मनुष्यों तथा देवताओं का निकट सम्पर्क रहा है, ऐसा पुरातन वर्णनों से प्रतीत होता है। इस में असम्भावना का कोई कारण नहीं।

यह तो यज्ञ का प्रचलित स्वरूप था, इस में सन्देह नहीं। हमें तो इसके आधारभूत नियम को समझना है। होम की आवश्यकतायें हैं; देवता, शान्ति तथा आहुति। और यजमान के विना यज्ञ असम्भव ही है। अग्नि में होमा हुआ अन्न किस प्रकार से देव को प्राप्त हो सकता है? यह समस्या है।

देवता सूक्ष्म होता है। उसका शरीर स्थूल नहीं और इस लिये वह स्थूल अन्न को ग्रहण नहीं कर सकता। स्थूल अन्न जला भी दिया जाता है सूक्ष्म देव का भोज्य भी सूक्ष्म होगा। हमारे प्राणमय शरीर का भोजन प्राण है। हम इसे सूर्य से

सीधा प्राप्त करते हैं अथवा अन्नादि में निहित रूप में। मनोमय कोप का भोजन भाव की शक्ति है—भाव ही हैं। भावों से ही मनोमय पुष्ट होता है। देवता की पुष्टि भी अन्न के सूक्ष्म अंश से—प्राण से अथवा मनोमय अंश से होगी। होम में देवता को वही प्राप्त हो सकता है।

ओर वह प्राप्त कैसे होता है? जलाने से। अग्नि स्थूल अंश को विच्छिन्न कर देती है। सूक्ष्म अंश स्थूल के बंधन से मुक्त हो जाता है। यजमान मन्त्रशक्ति के द्वारा उसे देवता तक पहुंचा देता है। यह सूक्ष्मांश देवता का भोज्य होता है उसके शरीर का अंश बन जाता है। अतः अन्न का दिव्यीकरण हो जाता है। यदि अन्न अपने स्थूल भाव परित्याग न करे तो वह दिव्य देह का अंश न बन पाएगा। यही उच्च परिवर्तन होमका रहस्य है। इसी पर किसी विशेष यज्ञ की सिद्धि आश्रित है।

यही यज्ञ का रहस्य है। एक नीचे भाव को छोड कर ऊंचे भाव को प्राप्त करना। इसके बिना विकास असम्भव है, यह तो स्पष्ट है। इसका दूसरा नाम त्याग है। यहीं विश्व का आधारभूत नियम प्रतीत होता है।

वह परमसत्ता जो एकमेवाद्वितीय है, वह त्याग करती है। जैसे पिता त्याग करता है वीर्य के निधान में;ऐसे ही परमसत्ता अपनी चेतना का अपनी शक्ति में निधान करती है। वह आदि यज्ञ है, सर्वपूर्व होनेवाला बलिदान है। यह अपनी ही किरण को शक्ति में छिपा देता है। सृष्टि की लीला तभी सम्भव है। वह चेतना प्रकृति (शक्ति) में छिपी होने के कारण अणु अणु में व्याप्त है परन्तु वह व्यक्ति नहीं। यह आत्मनिधान ही सृष्टि में व्यक्ति का कारण है। ऋग्वेद का, पुरुषसूक्त इसका बहुत सुन्दर रूप में वर्णन करता है। अलंकार की भाषा है। 'विकास की अधिष्ठात्री सत्ताओंने यज्ञ रचा और उसमें पुरुष की,—पुरुषोत्तम की, बलि दी। उस बलि के फलस्वरूप इस विश्व की उत्पत्ति हुई।'

हमने तो देखा था कि उच्च परिवर्तन ही यज्ञ का यज्ञत्व है। तो इस पुरुषोत्तम के त्याग में क्या उच्च परिवर्तन होता है ? पुरुषोत्तम अपने एकमेवाद्वितीय भाव को तो आंशिक रूप में खो देता है, इसमें क्या सन्देह ! परन्तु वह तो जड वर्ग में समा जाता है। उसकी चेतना ही प्रकृति के गर्भ में लुप्त हो जाती है, ऐसा प्रतीत होता है। हां, वह लुप्त होती है, प्रकट होने के लिये। विकासक्रमानुगत विविध

स्तरों के जीवों में वह प्रकट होती है। एकत्व से नानात्व को लाभ करती है, धीरे धीरे विकसित होती हुई एक से अनेक के रूप में पूर्ण विकास को प्राप्त करती है। एक ही अनेक रूपों में पूर्ण हो जाता है। यही विस्मयकर परिवर्तन है।

यज्ञ सृष्टि का आरम्भ है, पुरुषोत्तम स्वयं यज्ञ करते हैं अतः वह यज्ञरूप हैं। वह व्याप्त हो जाते हैं, अतः वह विष्णु हैं। इसी लिये कहा है, 'यज्ञो वै विष्णुः'-यज्ञ विष्णु है।

(२)

जो इस यज्ञ में केवल पूर्वरूप को देखता है, वह विनाश ही देखता है; जो परिणाम को देखता है वह नूतन अभ्युदय को देखता है। जिस ने विनाश देखा, उसके लिये यज्ञ बरबादी है, और निष्प्रयोजन। जो परिणाम को भी देखता है वह जानता है यह बरबादी नई उज्ज्वल आबादी की तैयारी ही है; और कुछ नहीं। वास्तव में दोनों उसी के विभिन्न रूप हैं। जो समूचा देखता है वही देखता है।

यह यज्ञ का क्रम पुरुषोत्तम ने चलाया था और हमें सारे विश्व में यह चलता हुआ ही दिखता है। कहीं पर यह अनजाने ही चल रहा है, और कहीं पर यह जान बूझकर हो रहा है। कहीं पर बलात् करवाया जाता है और दुःख होता है; कहीं यह स्वयं किया जाता है और आनन्द का कारण बन जाता जाता है।

निर्जीव प्रकृति वर्ग, मिट्टी आदि अपने निर्जीव भाव को बलिदान कर देती है, सजीव पौधों का अंश बन जाती है। तभी वानस्पतिक जगत् का उदय सम्भव है। यह त्याग है, परन्तु साथ ही नूतन योग्यता को भी ले आता है। वह धातु के अणु अब सजीव पदार्थ के भीतर कार्यकर्ता बन कर उसकी क्रियाओं का नियन्त्रण करने लगते हैं।

वनस्पतियां अपने वनस्पतिभाव का त्याग करती हैं, जीवन की बलि देती हैं तभी तो पाशविक जगत् की सम्भावना वास्तविकता में प्रकट होती है। वनस्पतियों को खाकर पशु जी सकते हैं, परन्तु सीधा मट्टी और पानी पर नहीं। वनस्पति में आकर यही मट्टी और पानी विशेष योग्यता को प्राप्त कर चुके थे। वही धातु-कण वनस्पति शरीर में आये हुए मानव शरीर के पेशियों की उपयुक्त क्रिया के योग्य हो जाते हैं।

यही उनके त्याग का फल है। इसी प्रकार से पाशविक जगत् अनेक प्रकार के त्याग करता है, तभी मनुष्य का जीवन सम्भव होता है।

माता पिता त्याग करते हैं, तभी बालक नूतन शरीरग्रहण कर सकता है। वह और अधिक त्याग करते हैं तो वह समाज का एक सदस्य बन सकता है।

सामाजिक क्षेत्र में भी हमें यही दिखाई देता है। व्यक्ति समाज के लिये त्याग करता है और समाज व्यक्ति के लिये; तभी तो सामाजिक जीवन सम्भव होता है। यह त्याग प्रायः अनजाने होता है। व्यक्ति समझता है, मैं निजी स्वार्थ के लिये काम करता हूं; परन्तु काम तो समाज का होता है। व्यक्ति को समाज के लिये त्याग करने पर ही सामाजिक जीवन की सुविधाएँ उपलब्ध हो सकती हैं।

यह नियम हमें सारी सृष्टि में ओतप्रोत दीखता है। आध्यात्मिक साधन में भी यह अनिवार्य है।

आज बहुत लोग इसे त्याग न कह कर स्वार्थ कहते हैं। मुझे एक सज्जन मिले—और ऐसे अनेकों होंगे,—जो इसे ठीक दूसरी नज़र से देखते थे। व्यक्ति अपनी सुविधाओं के लिये समाज में रहता है, यह एक सौदा है। शिक्षक स्कूल में

पढ़ाने जाता है तो अपनी रोटी के लिये जाता है। त्याग की कल्पना तो कोरी भावुकता है; ऐसा बहुत लोग समझेंगे।

स्वार्थ तथा त्याग में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि पहचानना कठिन है। स्वार्थसिद्धि का साधन ही त्याग बन जाता है। त्याग की भावना नहीं है, इस में क्या सन्देह! पर त्याग हो तो रहा है। भावना से वस्तुभेद तो नहीं होता। यदि यह कहा जाय, कि इस विषय में स्वार्थ की सिद्धि के लिये भी त्याग आवश्यक है तो झूठ न होगा; और इसी लिये यह भी, कि त्याग इस विश्व का मौलिक नियम है।

एक समुन्नत समाज में त्याग तथा स्वार्थ का पूर्ण सामञ्जस्य हो जाता है, दोनों हर अवस्था में एक ही रूप होते हैं, परन्तु वर्तमान अवस्था में ऐसा है नहीं। कभी कभी स्वार्थ तथा त्याग की होड़ होती है।

त्याग उन्नति के लिये, विकास के लिये, आवश्यक है। यही यज्ञ है। यह सारे विश्व में ओतप्रोत है। विनाश इसका पूर्व रूप है और नूतन अभ्युदय इसका परिणाम।



: १९ :

विकास की कठोर शैली

पिछले प्रसंगों से यह स्पष्ट हो ही चुका है कि विकास के प्रवाह को बुराई, दुःख, नीची प्रवृत्तियां—सभी में से होकर गुजरना पड़ता है। विनाश की घाटी भी इसको लांघनी ही होती हैं। सहज में जिज्ञासा होती है—'वह पुरुषोत्तम, जिसे दयामय कहते हैं इतना कठोर क्यों हो गया ? ऐसे क्लिष्ट पथ का निर्माण विकास के प्राप्तव्य स्थलतक पहुंचने के लिये क्यों किया गया ? क्या कोई सरल मार्ग सम्भव न था?'

यह पथ कठोर है। जिस व्यक्ति को इस चक्कर में से गुजरना होता है वह यही कहता है। इसी कठोरता से डरकर

तो लोग मोक्ष चाहते हैं। परन्तु है यह अनिवार्य ही। जिस दुनिया में हम हैं, जिन सीमाओं से सीमित हमारी दुनिया है और जैसे हम हैं उसके लिये यह अनिवार्य प्रतीत होता है। विद्यार्थी स्कूल में जाता है, उसे क्लिष्ट क्लिष्ट समस्यायें हल करनी होती है, घर पर भी काम करना पड़ता है—और स्कूल में भी! कई बरस लगते हैं उसकी मस्तिष्क शक्ति के विकसित होने में। इस सृष्टि में वृद्धि का नियम ही है अभ्यास। अतः विभिन्न प्रतीतियों के बिना प्रतीत करने की योग्यता विकसित होनी असम्भव है। बिना कठिनाई की चोट के, भीतर से शक्ति भी चमक नहीं उठती। कान में से खरा सोना नहीं निकलता, तपा कर शोधा जाता है। विकास एक धीमे धीमे होनेवाली क्रिया है। इस क्षेत्र में तो ऐसी योजना उपयोगी है, यही प्रतीत होता है।

यह योजना कठोर है, क्यों कि हम इसे कठोर समझते हैं। पहले दर्जे के प्रश्न भी पहले दर्जे के विद्यार्थी को कठोर दीखते हैं, परन्तु दूसरे दर्जे के विद्यार्थी के लिये तो वह अति-सुगम होते हैं। अतः हमारा निर्णय किसी महत्त्व का नहीं रखता। जब हम स्वयं इस चक्कर से पार खड़े हो सकेंगे, तभी हमारी दृष्टि कुछ ठीक अन्दाज़ लगा सकेगी।

जो व्यक्ति इस क्षेत्र से पार हो जाता है वह तो इसको दुःखमय नहीं देखता। वह इसको कठोर नहीं देखता। उसे तो प्रत्येक गति में मंगल का भान होता है। वह सभी में आनन्द को प्रतीत करता है। यदि उसकी मति अधिक प्रामाणिक है तो अवश्य ही हमारी सीमित अवस्था ही हमें कठोरता प्रतीत करवा रही है!

और भी, इसे कठोर कहने से कुछ सधेगा नहीं। वैसा सोचने से यह और भी कठोर लगेगा। हमें तो यही सोचना चाहिये कि इस क्षेत्र में से आगे कैसे बढ़ें। यहां के सबक जल्दी जल्दी पढ़ने होंगे; और वर्तमान अवस्था का उत्तरोत्तर अतिक्रमण करना होगा।

इस से कोई और सुगम उपाय इस क्षेत्र में हमें नहीं दीखता, वह हमने ऊपर कहा है। न जाने विकास की लीला इस विश्व में और किन किन स्थलों पर हो रही है और वहां क्या क्रम है! इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते; न ही उससे कोई प्रयोजन सिद्ध होगा।

विकास के क्रम में आगे बढ़ने पर आज की कठिनाइयां दूर हो जाएंगी और यही भूमण्डल, आनन्दमय लगेगा।

: २० :

जीव का स्वरूप

हमने अध्यात्मविकास के दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं पर दृष्टिपात किया है। उस विकास के लिये विभिन्न प्रवृत्तियों की तथा बाह्यस्थितियों की उपयोगिता को भी समझने का यत्न किया। आगामी विकास का विवेचन करने के लिये आवश्यक हो जाता है कि विकसित होनेवाले चैतन्य का कुछ वर्णन हम यहां पर कर दें।

यज्ञ के प्रसंग में यह देखा गया था कि परमसत्ता अपने को अपनी महाशक्ति में—प्रकृति में छिपा लेती है। प्रकृति में

परिवर्तन आरम्भ होता है। विभाग के मौलिक तत्त्व अहं का उदय होता है। इस स्तर पर आकर वही चेतनसत्ता प्रकृति में विभक्त दिखाई पड़ती है। वही, जो एकरस चैतन्य था अहं की ओढ़नी से अनेक हुआ प्रतीत होता है—जैसे एक ही सूर्य विभिन्न स्थलों में प्रतिविम्बित होने पर। चेतना में विभाग असम्भव है। उस में विभाग करनेवाली कोई वस्तु ही नहीं। यह चेतना का धर्म ही है कि वह प्रत्येक स्थल में पूर्ण रहती है। अतः वह पुरुषोत्तम ही प्रकृति में उस अवस्था में अनेक रूप में दीखता है और वह स्वयं अपने पद में भी प्रतिष्ठित रहता हुआ इस सारी लीला का निरीक्षण करता है। यद्यपि यह बात समझनी कठिन है। क्यों कि बुद्धि ससीम विचारों द्वारा सीमित है, परन्तु वास्तविकता ऐसी ही समझ में आती है। उस अनन्त में से अनन्त का उदय होने पर भी अनन्त ही बाकी रहता है। गणित का अनन्त (इनफिनिटी) इसका कुछ निदर्शन हो सकता है।

प्रकृति में आया हुआ पुरुषोत्तम विकासशील चेतन सत्ता है। यही जीव कहा जाता है। वह पुरुषोत्तम से अलग भी है क्योंकि परमसत्ता का पुरुषोत्तम भाव तो विश्वविकास का अधिष्ठाता है; वह तो सृष्टि-कर्ता, सृष्टि की स्थिति

कारण तथा प्रलयस्थल है, और यह जीव भाव तो प्रकृति की सीमाओं से अतिसीमित है। इस में ज्ञान, शक्ति तथा आनन्द तो बिलकुल कम है, जब कि पुरुपोत्तम-भाव सच्चिदानंद है। यह उस से अलग भी नहीं। प्रकृति से परे दोनों में अन्तर नहीं; वह एक ही परमसत्ता के दो भाव हैं। अन्तर की सम्भावना ही वहां पर नहीं हो सकती। यह जीव तो प्रकृति में यज्ञ के द्वारा छिपा हुआ पुरुपोत्ताम ही है। जीव विकास के पथ का पथिक है। उसे पुरुपोत्तमभाव को प्रकृति में पूर्ण-रूपेण अभिव्यक्त करना है।

इस अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति के योग की आवश्यकता है। वह सारा मानचित्र—विकास की रूप रेखा, जो महत्—विश्वमन—में लिपटी हुई पड़ी है उसको धीरे धीरे खोल कर अभिव्यक्त करना होगा। उस में अहं का भेद नहीं। वह एक विभागरहित नक्शा है। भेद की रचना उसी की स्थूल स्तरों में अभिव्यक्ति करती है।

प्रकृति मनोमय स्तर का निर्माण करती है। यह संकल्प-विकल्प का जगत् है और भावों का क्षेत्र, इस क्षेत्र में कार्य करने के लिये जीव को मनोमय शरीर (कोष) का आवरण

मिलता है । जीव की शक्ति उसके द्वारा मनोमयं स्तर में क्रिया करने के योग्य होती है ।

इससे अधिक स्थूल स्तर प्राण का है और इस में कार्य करने के लिये उसे प्राणमय शरीर का यन्त्र प्राप्त हो जाता है । स्थूल पृथिवी स्थूलतम स्तर है और इसमें क्रिया करने के लिये, व्यक्ति को स्थूल शरीर मिलता है ।

इन तीनों शरीरों से परे सूक्ष्म महत् तत्त्व के स्तर का अंश व्यक्ति में रहता है; वही उसका विज्ञानमय कोष है । उस विज्ञान शरीर के द्वारा वह महत् में बोधशील हो सकता है ।

इस प्रकार से विभिन्न शरीर रूपी यन्त्रों से जीव धीरे धीरे सुसज्जित किया जाता है । क्रमशः स्थूल शरीर का निर्माण होता है और व्यक्ति की चेतना स्थूल क्षेत्र में काम करने लगती है ।

हमें यह कह देना चाहिये कि शक्ति तथा चेतना का भेद हमारी बुद्धि की रचना है । वास्तव में वही परमसत्ता शक्तिरूपा है और वही चैतन्यरूपिणी । हमारी स्थूल बुद्धि उस में विभेद करना चाहती है । पर यह कल्पना है ।

प्रकृति के जड़ अणु प्रकृति भी है और चैतन्य भी। वेही अणु चैतन्य के विकास के क्रम में किसी दिन मनुष्य के रूप में प्रकट होंगे। जड़ प्रकृति की अवस्था में वेही दूसरे शरीरों के लिये प्रकृति बनेंगे। जिधर भी हम देखें हमें दोनों ही दिखाई पड़ेंगे। कहीं पर एक की अधिक अभिव्यक्ति होगी और कहीं दूसरे की।

अतः यह विश्व चैतन्य-शक्ति का विविध-विलास है। शक्ति चैतन्य की अभिव्यक्ति का साधन होती है। चैतन्य, शक्ति की अभिव्यक्ति का सूत्र। यह दोनों एक होते हुए भी दो हैं। और दो होते भी एक। यह विलास ही आनन्द है। तभी तो हम परमसत्ता को सच्चिदानंद कहते हैं। आनन्द को न हम शक्ति से अलग कर सकते हैं, न चैतन्य से। यही त्रिविध विकास की अनुमप लीला है। जीव इस लीला का अग्रणी है।

: २१ :

समाज तथा विकास

(१)

हमने व्यक्ति के जीवन को विकास के दृष्टिकोण से देखने का यत्न किया है। समाज पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।

हिन्दु जगत् में तो स्थिर सी धारणा है कि युगानुक्रम वास्तव में पतन परम्परा है। युगों का चिन्तन न भी किया जाय तो आज भी एक स्कूल ऐसा है जो, हो सके तो, १४वीं

शताब्दी को फिर से ले आने का यत्न करेगा । कला-कौशल और यन्त्र ही मनुष्य के पतन का कारण है । इन से पहले लोग सुखी थे । इतनी तड़क भड़क न थी, इतनी आवश्यकताएं न थीं, जीवन के लिये इतना संघर्ष न था और न हीं इतना राग द्वेष और काम क्रोध । सुखशान्ति थी तो उस समय में थी । पारिवारिक जीवन सुखी था; पंचायतें काम करती थीं, न पुलिस की विशेष आवश्यकता थी और न ही घूसखोरी थी । इस प्रकार से सोचनेवालों की कमी नहीं !

इस में सन्देह नहीं कि पुराने समय में यह सभी बातें न थीं । परन्तु इसके साथ ही साथ विज्ञान का बोध न था । हम अपने पड़ोसी को भी न जानते थे । आज तो सारी दुनिया ही एक हुई जा रही है । न तब रेल थी, न तार और न ही हवाई जहाज़ । पहनने के लिये तन भर कपड़ा बरतने का रिवाज भी न था । यदि बरता जाता तो कुछ लोग नितान्त नंगे रह जाते । इसके अतिरिक्त आज की अनेक बातें तब न थीं ।

यन्त्रीकरण ने मनुष्य के जीवन में बहुत अन्तर कर दिया है इस में सन्देह नहीं । पारिवारिक जीवन का विच्छेद सबसे

अखरनेवाली बात है। इसके साथ ही साथ सामाजिक शासन का अभाव और उसके कारण होनेवाली उच्छृंखलता स्वाभाविक है। पुरानी मर्यादाएं दूर रही हैं। और नूतन मर्यादाओं का निर्माण कठिन हो रहा है। यन्त्र के कारण, इस सामाजिक विच्छेद के कारण, मनुष्य अपने में नई शक्ति का अनुभव करने लगा है और वह लोभ, जो अवसर के अभाव के कारण, पहले कभी छिपा हुआ था, प्रकट होने लगा है। परस्पर संघर्ष, दलन तथा दमन सभी आ खड़े हुए हैं। यह न केवल व्यक्ति की हालत है, राष्ट्र भी इसी लोभ से आविष्ट हो रहे हैं। और ममत्व से पराभूत हो, रणक्षेत्र में उतर आते हैं। इस में सन्देह नहीं कि मनुष्य के काम को, क्रोध को, और लोभ को पनपने के लिये इस नूतन परिवर्तनद्वारा खूब क्षेत्र प्राप्त हो गया है।

परन्तु यन्त्र ने इस काम अथवा क्रोधादि को, स्वार्थपरता को, उत्पन्न किया अथवा बढ़ा दिया हो, ऐसा समझना भूल होगी। लोक का भय पारिवारिक नियंत्रण के कारण और परलोक का भय, धर्म के नियन्त्रण के कारण इन को दबाये हुए था। वे थे तो सही। इसके लिये प्रमाण ढूंढना कठिन नहीं। हिन्दु जाति जो बहुत ही उदार समझी जाती

है उसने अछूतों को दबाया। दासत्व की प्रथा हमें बहुत पुराने युग में भी मिलती है। सती में बल का प्रयोग होता रहा, इस में भी सन्देह नहीं। राजा लोग अपने साम्राज्य के लिये दिग्विजय करते आये। लोभ के लिये विश्वामित्र जैसे पदभ्रष्ट हुए। काम की लीला तो विचित्र थी। गान्धर्व-विवाह काम की खुली हुई लीला नहीं तो क्या है? देवयानी जैसी स्त्रियां तब भी होती थीं।

यह सब कुछ था, परन्तु यह सभी बना हुआ था, भय के कारण। लोगों में स्वतन्त्र विचार का सामर्थ्य न था। विज्ञान का तरीका अभी प्रकट न हुआ था। प्रमाणवाद ही लौकिक तथा पारलौकिक क्षेत्र में सर्वेसर्वा था। शास्त्र ने दिमाग़ पर ताला लगाया हुआ था; और समाज ने शरीर पर। ऐसा होते हुए यदि पाप कम हो बो कोई विस्मय नहीं।

इस में भी हमें सन्देह नहीं कि उस समय बहुत सुख था शान्ति थी। लोगों में सन्तोष था। बड़ों का मान होता था और लोगों में एकता थी। सर्वथा रामराज्य था। यद्यपि हमें पुराणों में तथा रामायणादि में बड़ी बड़ी संख्याएं मिलती हैं, परन्तु सामान्यतया आबादी का प्रश्न इतना जटिल न था। जंगल का हम स्थान स्थान पर स्मरण पाते हैं। यदि

वह भारत यही था जो आज है तो हमें उन संख्याओं पर विश्वास किये नहीं बनता। उसको जैसे भी समझा जाय, उस समय की खाने की समस्याएँ और रहने और पहनने की समस्याएं इतनी घोर न थी। ऋग्वेद तथा उसका अनुगामी सारा इतिहास पुराण और महात्म्य तक पुत्र की उत्पत्ति को, सन्तान को, संसार का सब से बड़ा सौभाग्य मानता है। स्थान स्थान पर पुत्रों तथा पशुओं के लिये प्रार्थना है। आज तो संतानसंयम एक बड़ी आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। आबादी की कमी को यह भी बात सूचित करती ही है।*

विज्ञान तथा यन्त्र ने सामाजिक जीवन में महान् परिवर्तन किया है। क्या यह वास्तव में पतन है? इसका विचार हम आगे करेंगे।

---

* हमने यहां उदाहरण भारत वर्ष का ही लिया है। क्यों कि पुराने पर इतनी आदर भरी निगाहों से देखनेवाले हमें अन्यत्र मिलना कठिन है।

(२)

'शैशव काल बहुत अच्छा था; बालकपन भी आनन्द पूर्ण था। परन्तु जवानी क्या आई, बला आ गई।' ऐसा कई एक सोचते हैं। अपने बचपन की याद कर के कई तो कामना भी करने लगते हैं कि हम बच्चे ही बने रहते! बचपन में सरलता होती है। भोला भाला शिशु मन को लुभा लेता है और अपनी दुनिया में मस्त रहता है। न चिन्ता होती है और न पुरुषार्थ ही करना पड़ता है। परन्तु जवानी में विकार उद्भूत होने लगते हैं। कहीं काम का उद्वेग और कहीं द्वेष और कहीं लोभ।

परन्तु क्या सचमुच बच्चे बना रहना अच्छा है? अज्ञान बचपन में होता है, उसके कारण परवशता भी; और शक्ति भी तो नहीं रहती। और बच्चा कर क्या सकता है संसार में? वह अपना आप नहीं सम्भाल सकता और क्या कर पायगा?

जो व्यक्ति यौवन के तूफानों से डरकर बचपन में ही रहना चाहता है वह कायर है। वह आगे न बढ़ पायगा। शक्ति तथा ज्ञान और भाव का अभ्युदय उस में न होगा। इन को प्राप्त करने के लिये कीमत देनी पड़ती है। और वह यही है कि तूफान को झेलना होगा। जो व्यक्ति इस तूफान में बलवान् बन कर डटा रहता है, विभिन्न अनुभूतियों से गुजरता है, वही तो अपना हित कर सकता है और दूसरों का भी। वही वृद्धि को प्राप्त हो सकता है।

जो यौवन में आंखें खोल कर चलेगा, पुरुपार्थ करेगा, वह फिर शैशव को अपने जीवन में ला सकता है। सरलता भी होगी; निश्चिन्तता भी; परन्तु साथ में ज्ञान तथा शक्ति होगी जिस के कारण वह उदय होगी। अब वह स्वतन्त्र होगा, परवश नहीं।

विफल जीवन ही, अथवा संसार की वास्तविकता की टक्कर से भय खाने वाले ही, यौवन से भागते हैं। परन्तु यह है आत्मघात।

मैं तो ठीक इसी प्रकार से समाज के विषय में सोचता हूं। जो व्यक्ति १४ वीं शताब्दी को फिर से लाना

चाहता है, जो व्यक्ति वर्तमान विज्ञान तथा उससे उत्पन्न होने-वाली सुविधाओं का तिरस्कार करता है वह समाज के शैशव को लाना चाहता है; और है यह असम्भव। विकास की शक्तियां बलात् मनुष्य को आगे ले जायंगी; वह बहुत समय तक संघर्ष से भाग न पायगा।

क्या भय से अच्छे बना रहना, निर्भय होकर बिगड़ने से अच्छा है? मेरी समझ में भय से अच्छा बने रहना, अथवा किसी को बनाये रखना, अपने अथवा दूसरे के विकास की प्रगति को रोकने का यत्न करना है। क्या यदि आज के विज्ञान द्वारा प्राप्त हुआ सामर्थ्य व्यक्ति को, समाज को, बिगाड़ रहा है तो उस सामर्थ्य को ही छीन लेना होगा?

विकास की प्रगति से यह स्वयं उत्पन्न हुआ सामर्थ्य है। मनुष्य के अन्वेषण उसके पुरुषार्थ का फल है और उसके विकास के लिये आवश्यक है। उनको छीनना मानव समाज तथा मनुष्य की प्रगति को रोकने का साहस करना है। शक्ति का दुरुपयोग दुःख का कारण होता है। यह तपस्या है जिससे व्यक्ति शुद्ध हो जाता है और शक्ति के सदुपयोग के योग्य होता है। शक्ति में दोष नहीं, दोष है तो मनुष्य में है और वह बिना चोट खाये ठीक न होगा। यही विकास का नियम है।

जहां पर हमने देखा कि विज्ञान ने पारिवारिक जीवन को विछिन्न कर दिया, वहां यह भी दीखता है कि मनुष्य मनुष्य की दासता की श्रृंखलाओं से निकलने का साहस करने लगा है। जहां एक छोटे से दायरे का विनाश हुआ है, वहां साथ ही विश्वपरिवार की कल्पना भी जग उठी है।

यन्त्र मनुष्य को आजीविका के भार से अधिकाधिक मुक्त करता चला जा रहा है। वह अपनी शक्ति तथा समय को अन्य क्षेत्रों में लगाने के योग्य हो रहा है। ललितकला, साहित्य, विज्ञान, सेवा की ओर अभिरुचि इसका स्वाभाविक परिणाम है।

आगे का पारस्परिक प्रेम भय के कारण था, परन्तु अब जिस प्रेम का अभ्युदय होगा, और पारस्परिक संघर्ष ही इसे करेगा, वह सीमित प्रेम न होगा जो भय के कारण होता है। इस में स्वार्थ रहेगा परंतु वह स्वार्थ दोनों ओर से समान होगा। धीरे धीरे परार्थ तथा स्वार्थ के सामञ्जस्य की ओर व्यक्ति बढ़ता चला जायगा और राष्ट्र और समाज भी। नूतन मर्यादाएं भी नई परिस्थितियों की मांगें होंगी परन्तु वह बाहरसे आरोपित, भय के कारण, न होंगी। उन में

व्यक्ति एकदम अपना, राष्ट्र का तथा अन्य राष्ट्रों का भी कल्याण देखेगा। पुरातन धर्मों का रूपान्तर होगा। व्यक्ति-धर्म को स्वार्थसिद्धि तथा दमन का कारण न बनाएगा। डर के कारण भी धर्म में प्रवेश न करेगा। आन्तरिक मांग से, अन्तस्तल की पुकार से इस ओर प्रवृत्त होगा और उसके लिये धर्म सजीव हो उठेगा। नूतन आध्यात्मिकता तर्क तथा विज्ञानकी विरोधिनी न होगी; इस से डरेगी भी नहीं; इनको सहयोग देती हुई वह उज्ज्वल रूप में प्रकट होगी।

यह कब होगा ? यह मुझे नहीं कहना। यह दीख रहा है कि हम इस ओर जा रहे हैं। यदि इस बीच में हमारे ही आन्तरिक उद्वेग — लोभ तथा प्रतिहिंसा—रणचण्डी में प्रज्व-लित हो समाज को भस्मीभूत कर दें तो भी यह कार्य समाप्त न हो जायगा। व्यक्ति अमर है तो जातीय आत्मा भी अमर है। वह नूतन अभिव्यक्ति में इस काम को कर डालेगी। इस पुराने समाज के खण्डहरों पर फिर से नूतन समाज का अभ्युदय होगा जो विकास की प्रगति को आगे ले जायगा। इतना ही कहा जा सकता है।

राष्ट्र तथा व्यक्ति का संघर्ष विकास की एक महत्वपूर्ण बात है। समाज को व्यक्ति पर कितना नियन्त्रण करने का अधि-

कार है, यह सदैव एक समस्या रही है। परिवार के उदय के साथ ही साथ यह समस्या उत्पन्न होती है, और समाज की जटिलता के साथ ही साथ यह भी जटिल तथा विकराल होती चली जाती है। अपनी आजीविका के लिये, अपने व्यवहार के लिये, तथा अपने भोग के लिये उसे बड़े बूढ़े के मुंह की ओर ताकना होता है, उनकी रुष्टता का अर्थ उसके लिये बहुत भयंकर हो सकता है।

पारिवारिक क्षेत्र में, सभ्यसमाज में संयुक्त परिवार का नियन्त्रण बहुत जबरदस्त होता है। परिवार से अलग व्यक्ति के लिये कोई स्थान नहीं मिल सकता। अपनी जाति की मर्यादायें भी उसे नियन्त्रित करती हैं। राष्ट्र के कानून भी उसके स्वच्छन्द व्यवहार में आ खड़े होते हैं। धर्म भी उसे नियन्त्रित करता है। उसके तथा समाज के अन्य व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार के विषय में मर्यादाऐं नियत करता है। यह सभी मर्यादाएं समाज में शान्ति बनाये रखने के लिये हैं। समाज में किसी पर भी कोई दूसरा व्यक्ति अनुचित दबाव न डाल सके, यह इनका प्रयोजन रहता है। संयुक्त परिवार का ही बृहद् रूप एक राजा के द्वारा शासन है।

यंत्रों के आविष्कार ने पूंजीवाले मनुष्य में विशेष शक्ति रख दी। वह उसके द्वारा दूसरे व्यक्तियों का शोषण करने लगा। उसको रोकना आवश्यक हो गया। दूसरी ओर प्रजा में ज्ञान के प्रचार के कारण राजाओं के शासन प्रजा के लिये पूर्णतया रुचिपूर्ण न होने लगे। इन दो शक्तियों ने समाज में विप्लव कर दिया; उसका परिणाम हुआ संयुक्त कुटुम्ब का विच्छेद और उसके सामूहिक सिरमौर राजाओं का शक्ति अपहरण। एक ओर जनतन्त्रका अभ्युदय हुआ, दूसरी ओर समाजवादी फिलसुफी पनपी।

एक ही प्रश्न को हल करने के दो तरीके हैं। जनतन्त्र शासन तन्त्र को अपने हाथ में लेकर समाज में शान्ति तथा समृद्धि स्थापना का यत्न करता है। पूंजीपतियों की शक्ति का नियन्त्रण करता है, परन्तु उनके अस्तित्व को नहीं मिटाता। समाजवाद सारी पूंजी को समाज की कर देता है। सभी व्यक्ति समाज के लिये काम करते हैं। शासन तो सभी की ओर से सामूहिक होता ही है। साम्यवाद इसी का निखरा हुआ रूप है।

साम्यवाद ने गत थोड़े बरसों में रूस में जो परिवर्तन कर दिये हैं, तथा गत महायुद्ध में जो शक्तिमत्ता का प्रमाण

दिया, उस ने संसार को विस्मित कर दिया है । वहां की समृद्धि को देख कर बहुत लोग लुब्ध हो रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि समाज की बहुत सी समस्याओं को एकदम से साम्यवाद हल कर सकता है ।

व्यक्ति को साम्यवादी शासन में घोर नियन्त्रणों में रहना होता है। विचार पर, आचार पर तथा बाह्य जगत् से सम्पर्क पर अनेकविध नियन्त्रण हैं। यह भी निःसंदेह है कि कुछ काल के उपरान्त यह नियन्त्रण व्यक्ति को प्रतीत नहीं होते। मनुष्य के विकास की वर्तमान अवस्था साम्यवाद के लिये उपयुक्त है अथवा नहीं ? क्या साम्यवाद इस अवस्था में मनुष्य के प्रगति का कारण होगा अथवा नहीं ? यह प्रश्न है। इसी पर निर्भर है कि साम्यवाद प्रगति करेगा अथवा नहीं ।

समाज की सर्वोत्तम स्थिति तो वह है जब व्यक्ति तथा समाज का परस्पर पूर्ण सामंजस्य हो। नियन्त्रण अनावश्यक हो, क्योंकि व्यक्ति के सभी कृत्य समाज के हित का साधन करें और साथ ही साथ व्यक्ति के हित का भी साधन करें समाजहित तथा व्यक्तिहित का समन्वय व्यक्ति के तथा समाज के उच्च विकास से ही सम्भव हैं और उस अवस्था

में स्वार्थ-परार्थ भेद लुप्त हो जाना स्वाभाविक है । परन्तु आज की स्थिति में हम उस अवस्था की भली भान्ति कल्पना भी नहीं कर सकते ।

आज की समाज की अवस्था उच्छृंखलता की अवस्था है । व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही विकास का कार्य है और इस समय लोभ तथा उसके संगी ही इस अभिव्यक्ति के द्वारा हो रहे हैं । साम्यवाद इस उच्छृंखलता पर एकदम से नियन्त्रण करता है । यह नियन्त्रण विकास की वर्तमान अवस्था में असम्भव है । या तो साम्यवाद इस व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिये नूतन द्वारों को खोल दे अथवा इसकी मांग साम्यवाद को ही रूपान्तरित कर देगी ।

यह हमें दीखने भी लगा है । साम्यवादी रूस में आन्तरिक नियन्त्रणों में तनिक ढिलाव हो रहा है । और आंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में रूस साम्राज्यवादिता का रूपग्रहण करने को जा रहा है । यह विकास की ही मांग है, इस में विस्मय की बात नहीं ।

इस में सन्देह नहीं कि वर्तमान युग जनतन्त्र का युग है । जनसत्ता जगी हुई है और वह नूतन शक्ति तथा ज्ञान की अभिव्यक्ति करेगी । यौवन में भय भी है, खराबियाँ भी हैं;

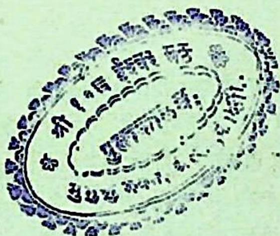
ऐसी ही जनतंत्र में भी हैं। कमिया होनी स्वाभाविक है। परन्तु समाजविकास का यही स्वच्छन्द पथ है, इस समय। इसकी बुराइयां, इसकी कमजोरियां किस प्रकार से जनन्त्र को परिवर्तित करती हैं यह भी हमने देखा है। गत महायुद्ध में समाजवाद की ओर सहज में प्रवृत्ति होती दिखाई पडी है। जनतन्त्र तथा समाजवाद के सम्मिश्रण की ओर प्रवृत्ति हमें इंग्लैंड जैसे देशों में दिखाई पड़ती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अधिकाधिक बनाये रखते हुए समाज की आर्थिक समस्या का हल करने का यह उत्तम ढंग है। इसके साथ ही साथ साम्राज्यवाद भी हमें दीख रहा है।

साम्राज्यवाद का दूसरा नाम शक्तिका लोभ है। जो बात व्यक्ति में प्रधान है, वही समाज में भी दिखाई पड़ती है। व्यक्ति समाज के लिये अपने लोभ का परित्याग करता है उसकी तृप्ति व्यक्तिगत क्षेत्र में न होकर सामाजिक क्षेत्र में होती है। देश के व्यक्ति परस्पर न भिड़ कर दूसरे देश वालों से भिड़ने लगते हैं। यह एक कदम आगे अवश्य है। किसी दिन इस लोभ का भी अतिक्रमण होगा, जब राष्ट्र दूसरे राष्ट्र में भी अपनापन देखेगा। जब एक राष्ट्र को यह बोध भली भान्ति होगा कि दूसरे राष्ट्र की हानि उसकी

भी हानि है, तभी इस लोभ की निवृत्ति सम्भव है। तभी युद्ध का भी संसार से अन्त हो सकता है।

इस से स्पष्ट ही है कि महायुद्ध इसी लोभ का परिणाम है। पहले जमाने में राष्ट्रीयता का यह भाव ही जागृत न था। उस समय के पारस्परिक सम्पर्क के साधन भी इसके लिये अनुपयुक्त थे। महायुद्ध सामाजिक विकास में एक प्रबल प्रेरणा रही है।

समाजवाद की ओर इस प्रकार से होनेवाली प्रगति स्वाभाविक है; किसी दिन यह भी हो जायेगी, इस में सन्देह नहीं। व्यक्ति पर जितने अधिक नियन्त्रण होंगे उतना ही उसका विकास होगा और उतना ही समाज का भी। बुद्धि की आवश्यकता स्वच्छन्दता है, परन्तु सामाजिक आवश्यकताएँ और विकास की अपूर्णता एक सीमा तक ही वह प्रदान कर सकती है। नियन्त्रण तथा स्वतन्त्रता में एक संतुलन बनाये रखना ही इस बीचवाली अवस्था का लक्षण है। पूर्ण स्वच्छन्दता पूर्ण व्यक्ति को ही, और पूर्ण राष्ट्र में मिल सकती है। एक राष्ट्र दूसरे से इतना सम्बद्ध है कि दूसरों की व्यक्तियों से कोई भी राष्ट्र नहीं बच सकता। अतः इस समय उस स्वच्छन्दता की हम कल्पना भी नहीं कर सकते।



: २२ :

अध्यात्म-विकास

'अध्यात्म' नामक प्रकरण में हमने अध्यात्म शब्द के अर्थ को समझने का प्रयत्न किया था। व्यक्ति में स्थूल शरीर से सचैतन्य जीव पर्यन्त, सभी कुछ, अध्यात्म शब्द द्योतित करता है। जैवी विकास, जिसके प्रतिपादक डार्विन थे, उसको तो प्रायः सभी लोग समझते ही हैं, हमें अध्यात्मविकास के अर्थ को समझने का यत्न करना है।

सृष्टि एक समुदाय है, और समुदाय भी सजीव सा। हमारी सीमित दृष्टि ही उसमें विभेद करती है। हमारी इन्द्रियों की

योग्यता ही उसे विभिन्न श्रेणियों में विभाजित कर देती है। इसी तरह से व्यक्ति भी एक एकाई है और एक एकाई की तरह ही क्रिया भी करता है, परन्तु समझने के लिये भेदों की रचना आवश्यक हो जाती है। इस समुदाय का विकास ही अध्यात्मविकास है; बाकी सभी विकास इसी का अंश है।

आधुनिक विज्ञान का जैवी विकास सजीव सृष्टि में क्रमशः होनेवाले परिवर्तनों का सूत्रीकरण है। उन वैज्ञानिकों का अध्ययन का विषय ही है विभिन्न जीवों की श्रेणियों में उत्तरोत्तर होनेवाले परिवर्तनों की जांच करना और उनकी उपादेयता को समझना। इस प्रकार से एक विकसित होती हुई परम्परा का पता चल जाता है। परन्तु वह लोग जैवी जगत् में केवल मात्र स्थूल आकृति का ही अध्ययन करते हैं। किस प्रकार से एकांगी जीव अमीबा की आकृति में परिवर्तन होते हुए, अनेक विश्लिष्टावयवसम्पन्न मनुष्यशरीर का निर्माण हो जाता है। यही उन के अध्ययन का क्षेत्र है।

इस अध्ययन के लिये वह जीवित शरीरों का अध्ययन करते हैं। कोयले आदि के रूप में लुप्त जीवों—शरीरों का अध्ययन भी करते हैं। परिवर्तन की सम्भावित शैली तथा

कारणों के विषय में भी तर्कना की जाती है, यद्यपि उस विषय में अभी तक पूर्ण ऐकमत्य वैज्ञानिकों में नहीं हो पाया।

अध्यात्मविकास सारे विश्व में सूक्ष्मातिसूक्ष्मपर्यन्त होनेवाले विकास का अध्ययन है। सृष्टि की उत्पत्ति, उसमें जैवी जगत् का उदय, उसमें क्रमशः होनेवाले, स्थूल तथा सूक्ष्म स्तरों के परिवर्तन, चैतन्य की क्रमशः होनेवाली अभिव्यक्ति—इन सब का अध्ययन अध्यात्मविकास में ही आता है। समाज का निर्माण तथा राजनीति का विकास, सभ्यताओं की उन्नति और अवनति—इन सभी का अध्ययन अध्यात्मविकास का ही अंश है। जैवी जगत् में होनेवाले परिवर्तन भी इस में समाविष्ट है। यदि थोड़े में कहा जाय तो उस से—परमसत्ता से उसकी स्थूलातिस्थूल अभिव्यक्ति पर्यन्त, सारे का अध्ययन —क्रमिक ऐतिहासिक दृष्टी से,—यही अध्यात्ममिकास का क्षेत्र है।

होनेवाले परिवर्तन तथा उनके कारणों को समझना और इसी प्रवाह की आनेवाली प्रगति का अनुमान लगाना, सभी इसी अध्यथन में सम्मिलित है। सृष्टि में, व्यष्टि तथा समष्टि में, जो कुछ है वह क्यों है। उसकी क्या उपादेयता

है। यह समझ लेना अध्यात्मविकास के तथ्य को समझने के लिये आवश्यक है।

अतः अध्यात्मविकास अतिविस्तृत विषय है, और गहन भी, संसार की प्रत्येक गति, विश्व में उत्पन्न होनेवाला प्रत्येक स्पन्दन व्यष्टि में होनेवाली प्रत्येक क्रिया और बाहर से होनेवाली प्रतिक्रिया को, जो सभी उसी विकास में योग देती हैं, समझ लेना इसकी महान् समस्या है। कठिनाई का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

और भी कठिन काम है, इसी विकास की पराकाष्ठा का अनुमान लगाना। जिस ओर यह विश्व की प्रगति चली जा रही है, उसको समझ कर, अनुमान लगाना होगा कि यह कहां पर जा कर विश्रान्त होगी।

व्यक्ति की बुद्धि सीमाओं से अतीव सीमित है। स्थूल जगत् की अनुभूतियों से सूक्ष्म लोक के अनुमान लगाने असम्भव हो जाते हैं। अपने विचार तथा भावों की सीमा, आसक्तियों के बन्धन, तथा अहं की बेड़ियाँ व्यक्ति को व्यक्तित्व से ऊपर उठने नहीं देती। परन्तु अध्यात्मविकास के रहस्य को जानने के लिये व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाना आवश्यक है। इसी लिये विज्ञान साधनाक्षेत्र से घनिष्ट सम्बन्ध रखता है।

: २३ :

अध्यात्म विकास की प्रामाणिकता

प्रत्येक वाद एक दृष्टिकोण है, जिस से देख कर बाह्य जगत् की अनुभूतियों को सूत्रित किया जा सकता है। उसकी सत्यता का प्रमाण होता है सभी अनुभवों का उसमें समावेश। यदि कुछ अनुभूतियँ उस सूत्र में सूत्रित न हो सकें, और उनके सूत्रित न होने का कारण भी समझ में न आय, तो वह वाद प्रामाणिक नहीं रहता, उतने ही अंश में। परन्तु इतना ही नहीं; जितने विशाल क्षेत्र का निर्णय किसी एक

वाद द्वारा हो सकता है, उतना ही उसका महत्त्व बढ़ जाता है। न्यूटन के गति के नियम ठीक काम करते हैं, परन्तु आइनस्टाइन का सापेक्षता का सिद्धान्त उस से बढ़ चढ़ कर है, क्योंकि उस से और भी अनेक बातें सुलझ जाती हैं, जिन्हें न्यूटन के नियम न सुलझा सकते थे, सुचारु रूप से।

इसके साथ ही साथ यह भी सत्यता का प्रमाण अवश्य है कि उसके आधार पर किये गये प्रयोग फलवान् हों, यद्यपि यह प्रमाण इतना महत्त्व नहीं रखता। गुर (एम्पीरिकल ला) भी इस काम को सिद्ध कर सकता है, यद्यपि वह प्राकृतिक नियम की पदवी को प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रकृति की गति-विधि का ठीक ठीक चित्रण ही नियमों तथा वादों का प्रयोजन है। वर्तमान समझ के अनुसार जो नियम अथवा वाद इस कार्य को सर्वोच्च प्रकार से कर सकता है, वही प्रामाणिक समझा जायगा। कल की नयी प्रतीतियों का सूत्रीकरण यदि उस नियम से न होगा, तो वह नियम अपने पद से गिर जायगा, इस में सन्देह नहीं।

व्यक्ति आंशिक सत्य से पूर्ण सत्य की ओर बढ़ता चला जाता है। जैसे जैसे व्यक्ति का अनुभवक्षेत्र विस्तृत होता

चला जाता है, उसे नई नई बातों का बोध होता है, वैसे वैसे उसके वाद भी सत्यता को अधिकाधिक प्रतिफलित करने लगते हैं।

क्या वास्तव में इस विश्व में अध्यात्मविकास हो रहा है? इसका प्रमाण? इसी का हमें विचार करना होगा।

जैवी जगत् का अध्ययन वैज्ञानिकों ने किया है और विकासवाद उसके इतिहास का समुचित चित्रण प्रतीत होता है। चैतन्य की अभिव्यक्ति में जो परिवर्तन हम इस विकास क्रम में विभिन्न शरीरों में देखते हैं वह भी उसी विकास सूत्र में बंध जाते हैं। सामाजिक क्षेत्र में हमें विकास दिखाई पड़ता है तथा राजनैतिक क्षेत्र में भी। जहां इसके अपवाद दीखते हैं उसका कारण भी यही दृष्टिकोण ढूंढ निकालता है। व्यक्ति के जीवन का अध्ययन हम शैशव से बढ़ती हुई अवस्थाओं में करते हैं तो हमें उसकी शक्तियों का विकास मिलता है। वह विकास यदि एक स्थान पर खड़ा हो जाता है* तो वह स्थिरता भी विकास के आगामी पग के लिये आवश्यक है, यह भी समझ में आता ही है। पश्चा-

* बुढ़ापे तथा मृत्यु में

मनोविज्ञान तथा मानुषी मनोविज्ञान भीं विकास की पुष्टि करता प्रतित होता है। अतिभौतिक विज्ञान हमारी कठि-नाइयों को सरल करने में कदम कदम पर सहयोगी होता है। अन्त में यही कहना पड़ता है कि हमें कोई ऐसी बातें नहीं मिलतीं जिनको हम विकासवाद के सूत्र में न पिरो सकें, अथवा इसके द्वारा न सुलझा सकें। अतः प्रकृति की गति का यही सुचारु वर्णन प्रतीत होता है।

जब हम दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो भी इस विश्व का प्रयोजन हमें विकास--चैतन्य का पूर्ण विलास--ही समुचित प्रतीत होता है। इस विश्व की सजीव सत्ताओं का नैसर्गिक स्वभाव ही विकास प्रतीत होता है। इसी में मनुष्य को भी आत्मतृप्ति मिलती है। महत्ता की प्राप्ति, शक्तियों का पूर्ण विकास ही अन्तरात्मा की भी पुकार है।

साधन का क्षेत्र अध्यात्मविकास की सत्यता का ठोस प्रमाण प्रतीत होता है। व्यक्ति की साधन में उत्तरोत्तर गति सहज में उसकी शक्ति का, चेतना तथा भाव का विकास करती चली जाती है। जैवी जगत् के विकास के नियम किस सुचारु रूप से अन्तर्जगत् में लागू होते हैं, यह विकास की सत्यता का आधिक प्रमाण है।

शास्त्र पर हम दृष्टि डालते हैं तो हमें प्रमाण मिल ही सकते हैं। पुराण सृष्टि की लीलाओं का कहीं प्रच्छन्न रूप से वर्णन करते हैं और कहीं प्रकट रूप से। श्रीमद्भागवत का सृष्टि रचना का वर्णन विभिन्न सर्गों का क्रम, विकास का पोपक है। अवतारों का क्रम भी उसी की पुष्टि करता है।

हम इस दृष्टिकोण को छोड़ने को सदैव उद्यत है, यदि कोई दूसरा दृष्टिकोण इस से विशाल हो, इस से अधिक सौम्य तथा ऊँचा हो और व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में अधिक सौम्यता ला सके। हम इसे छोडने को उद्यत हैं, यदि कोई दूसरा दृष्टिकोण व्यक्तित्व के विकास के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध हो सके और अधिक विस्तृत तथा उच्च आध्यात्मानुभव का कारण हो। मनुष्यमात्र के लिये यह दृष्टिकोण एक नूतन आशा है, दिव्यत्व की प्रतिज्ञा है।

बस यही कुछ है अध्यात्मिक विकास की सत्यता का प्रमाण !

: २४ :

अध्यात्म विकास की प्रक्रिया

अध्यात्म विकास होता किस प्रकार से है ? यह हमें समझना होगा। जैवी जगत् में विकास की प्रक्रिया को समझने के लिये दो सिद्धान्तों का डार्विन महाशय ने प्रतिपादन किया था; नैसर्गिक चुनाव तथा सुयोग्य का बचाव। इन दोनों के आधार पर यह सिद्ध करने का यत्न किया गया कि किस प्रकार से एक आकृति से दूसरी आकृति का निर्माण होता है। इस विषय में वैज्ञानिकों में मतभेद है।

आगे बढ़ने से पहले हमें यहां यह बता देना उचित होगा कि विकास स्वयं होनेवाली क्रिया नहीं है। वैसे देखा

जाय तो स्वयं कुछ भी नहीं होता। जहां कुछ होता है वहां शक्ति है तथा चैतन्य भी। जहां हमें उनका स्रोत नहीं मिलता वहां यह भ्रममूलक प्रतीति होती है कि स्वयं कुछ होता है। न्यूटन के गति के नियम भी इसी बात के सूचक हैं कि शक्ति के बिना परिवर्तन असम्भव है। यह बात बुद्धि-गम्य भी है। विकास जैसी जटिल क्रिया तो बिना चैतन्य के योग के असम्भव ही है। फलतः, यह मानना पड़ता है कि विकास के क्रम में सहायता करनेवाली, इसकी निष्पत्ति के लिये देनदार चैतन्य शक्ति है। वही विकास का रास्ता निकालती है। अधिकाधिक विकसित होता हुआ चैतन्य ही आकृति विकास की मांग करता है, यह हम आगे भी कह आये थे।

अब हमें यह समझने का यत्न करना है कि विकास के सिद्धान्त क्या हैं? वह विकास—कारिणी शक्ति किस प्रकार से काम करती है? हमें इसे चेतना के स्तर पर अध्ययन करना होगा। बाकी बात स्वयं समझ में आने लगेगी।

पुरुषोत्तम निहित है अणु अणु में। वह प्रकट होने के लिये सचेष्ट है। परन्तु इस अभिव्यक्ति के साधन प्रकृति में हैं, अतः प्रकृति में परिवर्तन आवश्यक है। निहित चेतना इतनी

क्रियाशील नहीं कि प्रकृति को एकदम से बदल दे । इसी लिये महाशक्ति के विकास के अधिष्ठातृ चैतन्य के योग की आवश्यकता रहती है । महाशक्ति चैतन्य को सेती है। उसका आकर्षण निहित पुरुषोत्तम के प्रकट होने के लिये स्थायी प्रेरणा है।

मुझे अंडे के परिपाक की क्रिया का स्मरण हो रहा है। 'मां' अंडे को सेती है; और भीतर बच्चा प्रकट होने लगता है। ऐसी क्रिया ही अधिष्ठातृ चैतन्य की समझनी चाहिये। इसके बिना विकास असम्भव है। यह पहला सिद्धान्त है। महाशक्ति की शक्ति का प्रवाह सतत प्रेरित रहता है, निहित चेतना पर।

निहित पुरुषोत्तम का जग जाना तो आवश्यक ही है। जितना वह जगता है, उतना ही बाह्य प्रकृति में परिवर्तन होता है। महाशक्ति का आकर्षण तो सतत बना हुआ है, परन्तु यह जगना तो धीरे धीरे होता है। इसको हम चैतन्य का आरोहण कहेंगे। जितना वह जग जाता है उतना ही अधिष्ठातृ चेतना के प्रवाह को ग्रहण कर सकता है। यह स्वाभाविक ही है। चैतन्य का क्रमिक आरोहण दूसरा सिद्धान्त है। बाह्य जगत् की क्रिया ही इसका निमित्त है।

प्रत्येक परिवर्तन चेतना में तथा बाह्य प्रकृति में एक विक्षेप का कारण होता है। चेतना के विभिन्न स्तरों का पारस्परिक संतुलन तथा प्रकृति में अवयवों का पारस्परिक परिमाण बिगड़ जाता है। अतः इस चैतन्य की नूतन अभिव्यक्ति के उपरान्त नूतन सामंज्यस्य की स्थापना की आवश्यकता रहती है। यह बात जैवी विकास में स्पष्ट ही है। टेड्पोल से मेंडक का बनना इसी प्रकार से सम्भव होता है। गर्भगत मनुष्य–शिशु की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन किया जाय तो यह नूतन सामंज्यस्य स्थापना का तृतीय सिद्धान्त एकदम समझ में आ जाता है। इस के अभाव में अभिव्यक्ति का एकत्व ही नहीं रहता और सौम्यता भंग हो जाती है।

हमने ऊपर कहा है कि महाशक्ति तो सदैव प्रेरित होती है। इसी प्रकार से परिवर्तन भी सदा लगा रहता है और सामंजस्य स्थापना का प्रयास भी। यह तीनों क्रियायें सतत-वाही होते हुए भी, हमेशा समान रूप से प्रबल नहीं होती हैं। आध्यात्मिक विकास की अत्युच्च स्थिति में ही इन में समता प्रतीत की जा सकती है; पूर्वकी अवस्थाओं में तो आइल इंजन की प्रारंभिक गति की तरह झकोरे लगते

प्रतीत होते हैं। इन का अलग २ अध्ययन भी एक सीमा तक ही सुगमतां से सम्भव है।

साधना के क्षेत्र में इस विकास की शैली को भली भांति समझा जा सकता है और अध्यात्म साधना का यह आधार भी है। इन्हीं सिद्धान्तों का हम एक उदाहरण लेंगे।

पशु मनन की शक्ति से शून्य है। मनुष्य में मनन की योग्यता आती है। परन्तु मनुष्य पशु तथा मन का संयोग मात्र नहीं। मन का अभ्युदय आधारभूत पशु में कई परिवर्तनों का कारण हो जाता है। पशुओं की सहज प्रवृत्तियां—विशेष योग्यताएँ लुप्त होने लगती हैं। उनकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों में भी अन्तर होने लगता है और इतनी परिवर्तनशील हो जाती हैं कि मानों रूपान्तर ही हो गया हो। शरीर में आकृति के अतिरिक्त भी परिवर्तन होते हैं। मध्यवर्ती ज्ञान-तन्तु संस्थान की प्रबलता तथा सहयोगी ज्ञानमन्त्र संस्थान की गौणता होनी स्वाभाविक ही है। अतः यहां हम 'मन' का अभ्युदय देखते हैं और साथ ही आधारभूत पशु में इस प्रकार का परिवर्तन, कि मनुष्य एक नूतन एकाई बन जाता है। यह सभी कुछ सम्भव तो महाशक्ति के प्रवाह के कारण ही हुआ।

यहां पर यह कह देना भी उचित ही होगा कि यह क्रिया सभी स्तरों में चलती रहती है और विकास की अन्तिम स्थिति तक कोई भी स्तर बिलकुल स्थिर नहीं रह सकता, न ही पूर्णत्व को प्राप्त हो सकता है।

: १५ :

मानुषी-विकास का नियम

अध्यात्मविकास के दृष्टिकोण से तो हमें यही कहना होगा कि मनुष्य समाज में विकास के लिये रखा गया है। उस की विशेष परिस्थिति ही उसकी विकास की अग्रगति के लिये समुचित स्थिति है, अन्यथा विकासकारिणी शक्ति मानुषी विकास की पूर्णरूपेण सहायिका नहीं है। परिस्थिति का समुचित उपयोग ही मानुषी विकास का नियम है। इसी को हम स्वधर्म कह कर पुकारेंगे।

मन ही मनुष्य की विशेषता है। मन प्राण से कहीं ऊंचा तथा ग्रहणशील यन्त्र है, बाह्य प्रभावों को ग्रहण करने

का। अध्यात्म विकास में सर्वत्र आन्तरिक जागृति बाह्य क्रिया के कारण होती है। प्रसुप्त चेतना बाहर की चोटों द्वारा प्रतिक्रिया के लिये बाधित की जाती है। उसकी ओर से होनेवाली प्रतिक्रिया तथा बाह्य जगत् से होनेवाली क्रिया, दोनों ही चैतन्य को प्रभावित करते चले जाते हैं और वह विकसित होता चला जाता है। मानसिक विकास का भी ठीक यही नियम है। यही परिस्थिति के महत्त्व का कारण है।

किसी परिस्थिति विशेष में किसी चैतन्य की ओर से क्या प्रतिक्रिया होगी यह उस परिस्थिति पर निर्भर है और चैतन्य के इतिहास तथा वर्तमान विकास की स्थिति पर। वह प्रतिक्रिया, जो चैतन्य के विकास को आगे ले जाय, वही उसके विकास का नियम है, वही उसका स्वधर्म है। इस में पुण्य तथा पाप का कोई प्रश्न नहीं है। बाह्य जगत् से प्राप्त होनेवाले फल का भी कोई प्रश्न नहीं रहता और न ही सुख अथवा दुःख का। यह जीव की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति का नियम ही है; परमपुण्य है। इस का अवलंघन ही पाप है।

तीसरे दर्जे के विद्यार्थी के लिये स्वधर्म तीसरे दर्जे के पाठों का तय्यार करना है और दूसरे दर्जेवाले का अपने दर्जे

के पाठों को पढ़ना। ऐसा करने से ही तो वह आगे बढ़ सकते हैं। यदि अपना काम छोड़ कर दूसरे का किया जाय तो समय तथा शक्ति का अपहरण मात्र होगा। ठीक यही बात मानुषी विकास की है।*

मनुष्य की अवस्था प्राप्त करने से पूर्व पशु की स्थिति अविवेक की स्थिति है। नैसर्गिक प्रवृत्तियां उसे यन्त्र-वत् ले जाती हैं; और उसका नियमित जीवन चलता रहता है। परन्तु मनुष्य में विचार का उदय होता है; वह अपने रास्ते को चुन सकता है और बदल भी। विकास के क्षेत्र में वह समुचित चेष्टा द्वारा जल्दी भी आगे बढ़ सकता है तथा अनुचित उपयोगों द्वारा अपनी गति का अवरोध भी कर सकता है। यही मनुष्यत्व का लक्षण है। यहीं पर स्वधर्म तथा कर्तव्य का प्रश्न उपस्थित होता है। पशु के सामने चुनाव की सम्भावना न थी, अतः, ऐसा प्रश्न भी न था।

मनुष्य की नूतन योग्यता तथा आत्मचैतन्यता भय का भी कारण हो सकती है। वही सहजप्रवृत्तियां जो पशु में नैसर्गिक नियम में थीं, अब बंधनों से छूट जाती हैं। मनुष्य

---

* 'यज्ञ' के प्रसंग भी इसी के साथ देखियगा

को अपनी तृप्ति के लिये बाधित करती हैं और मनुष्य जीवन में विप्लव कर देती हैं। काम तथा क्रोध मनुष्य में आविष्ट हो जाते हैं और उसकी बुद्धि को विक्षिप्त करते हैं। स्वधर्म से च्युत करने में बलात् प्रेरणा होती है। धीरे धीरे ही व्यक्ति इन सहज प्रवृत्तियों के आक्रमण के प्रति सजग हो सकता है। तभी स्वधर्म का अवलम्बन सम्भव होता है।

प्रत्येक व्यक्ति का निजी धर्म है, प्रत्येक विशेष परिस्थिति में। यही उसके विकास का नियम है। जैसे व्यक्ति बदलता है वैसे ही उसका धर्म भी। इस में स्थायित्व की सम्भावना नहीं। इसके विषय में हमने 'आध्यात्मिक साधन' में अधिक चर्चा की है।

जिस प्रकार से व्यक्ति का निजी धर्म होता है ठीक ऐसे ही देश तथा जातियों के स्वधर्म होते हैं और उनके भी विकासक्रम में परिवर्तन होता है। एक परतन्त्र जाति का स्वधर्म राष्ट्रीयता है। उसे अपने स्वातन्त्र्य के लिये जान लड़ा देनी होगी। अन्तरराष्ट्रीयता उसके लिये कुछ अर्थ नहीं रखती और उसके विकास की बाधक होगी। स्वतन्त्र देशों का धर्म अन्तर्राष्ट्रीयता हो सकता है, इस में सन्देह नहीं।

: १६ :

विकास की निश्रेणि

(१)

विकास का विभिन्न प्रकार से अध्ययन करने के उपरान्त अब हमें विकास की आगामी अवस्थाओं पर विचार करना होगा। यह समस्या कितनी कठिन है, साधारण दृष्टि से भी इसका अनुमान लगाना आसान है। एक बन्दर के लिये मनुष्यत्व की कल्पना अथवा एक वनस्पति के लिये मनुष्यत्व की कल्पना जितनी असम्भव हो सकती है, उतनी ही

कठिन है आगामी विकास के विषय में कल्पना करना। इतना तो क्या आज से पचास वर्ष पूर्व यह कल्पना करनी असम्भव थी कि १९४६ में दुनिया का यह रूप हो जायगा। अनन्त के मर्म में क्या कुछ छिपा है, यह कहते कैसे बनता, अन्यथा अनन्त सान्त ही न हो जाय?

अध्यात्मविकास बहुत विस्तृत अध्ययन है। आगामी विकास की अवस्थाओं का वर्णन भी कई विषयों में हो सकता है। समाज, राजनीति, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, जैवी जगत्, मनोमय जगत् और कितने ही अन्य विषयों पर विचार करना आवश्यक हो सकता है। परन्तु हम व्यक्ति, जो कि इस सृष्टि में विकास के अग्रणी हैं, उसी का प्रधानतः अध्ययन करेंगे। उसके आगामी विकास को समझ लेने से बाकी सभी बातों के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। इस सृष्टि की बरात का वह दूल्हा है। वही मुख्य है।

मन ही मानवता का चिन्ह है। मन विचारमय भी है और भावमय भी। यही चैतन्य का सर्वोत्कृष्ट विकास इस समय दिखाई पड़ता है। मन के आगे किस तत्त्व का विकास होगा? यह प्रश्न है।

आध्यात्मिक साधना, जो विकास की अग्रगति में कारण हो सकती है, हमारी सहायक होती है। इस प्रश्न का उत्तर देने में आध्यात्मिक साधना के आधारपर ही हमें इस विषय में जो कुछ कहना होगा कह पाएँगे।

मन में विचार तथा भाव दोनों हैं, परन्तु विचारों की स्थिति हीं उच्च है। भाव का अभ्युदय विकास क्रम में पूर्ण होता है और विचार का अनन्तर। विचार भावों को अपने सूत्र में बान्ध भी सकते हैं, निजी अधिक सूक्ष्मता के कारण। विचार बुद्धि का धर्म है। बुद्धि की क्रिया है।

बुद्धि विश्लेषणात्मक है। किसी भी वस्तु को जानने के लिये उसका विश्लेषण करना आवश्यक है। परन्तु इतना ही नहीं, फिर संयोजन भी करना पड़ता है। तभी तो ज्ञान का उदय होता है। परन्तु ज्ञान प्राप्त करने का यही तरीका नहीं।

इस विश्लेषण तथा संयोजन के बावजूद भी वस्तु तो वास्तव में हम से दूर ही रहती है। उसका संपूर्ण बोध तो सम्भव नहीं। दृष्टिकोण की सीमायें इस बोध को सीमित किये रहती हैं। इस बोध की शक्ति से एक ऊपर की ज्ञान-

शक्ति है जिस में वस्तु से तादात्म्य प्रतीत किया जाता है और वस्तु का बोध होता जाता है । वह बोध अत्यधिक निश्चयात्मक तथा पूर्ण होता है। उस बोध में बुद्धि का बोध तथा भाव छिपे रहते हैं, परन्तु वह इन दोनों का अतिक्रमण करता है। यह समाधिज्ञान * है । समाधिचेतना की प्राप्ति से ही यह सम्भव है।

विकास की आगामी पदवी इसी चेतना की अभिव्यक्ति है। एक समय ऐसा आयगा जब सभी वर्तमान मनुष्य इस चेतना का उपयोग करने लग जायँगे। इस चेतना की अभिव्यक्ति भी यन्त्रोंद्वारा सम्भव होगी; जैसे कि वर्तमान चैतन्य की सिरमौर बुद्धि की अभिव्यक्ति के लिये मस्तिष्करूपी यन्त्र की आवश्यकता है। हमारे सूक्ष्म शरीरस्थ आज्ञाचक्र ही उस चेतना की अभिव्यक्ति का यन्त्र होगा । इसी को शिव का तृतीय नेत्र कहा जाता है।

इस नूतन स्तर की प्राप्ति मनुष्य में कई अन्य परिवर्तन कर देगी: यह स्वाभाविक है। यह चेतना का नूतनावरोह

* थिओसाफी की परिभाषा में इसे बुद्धि कहा जाता है, हमने इसे समाधिज्ञान कहा है। क्योंकि बुद्धि का उपयोग सामान्य अर्थों में किया गया है।

हृदयवर्ती नीची प्रवृत्तियों के वेग को शान्त कर देगा। हृदय के भावों का परिशोधन तथा परिवर्धन होगा। प्राण भी विशुद्ध हो जायगा, अर्थात् काम क्रोधादि के भाव आगे से दुबले पड़ जायँगे। शरीर में भी इस नूतन प्राण के क्रिया-क्षेत्र होने के कारण नूतन सामंजस्य की प्राप्ति हो जायगी। आज हमारे शरीर की प्रत्येक पेशी हमारे मानसिक सन्दनों को ही ग्रहण कर सकती है। तब वह समाधिचेतना के प्रति-ग्रहणशील हो जायगी।

समाधिज्ञान बौद्धिक ज्ञान से कहीं अधिक विस्तृत तथा निश्चयात्मक है। व्यक्ति के मन, प्राण तथा शरीर में इस के आधिपत्य से नूतन सामंजस्यपूर्ण साम्राज्य की स्थापना होगी यह सामंजस्य वर्तमान सामंजस्य से कहीं बढ़ चढ़ कर होगा।

इस विकास की अग्रगति के कारण न केवल मनुष्य नूतन अलौकिक ज्ञान का पात्र बनेगा, अपितु उसका मस्तिष्क तथा हृदय, प्राण तथा शरीर भी निर्मल तथा उज्ज्वल होंगे, वह देवता के समीप पहुंच जायगा।

इस परिवर्तन का सामाजिक क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ेगा, यह अनुमान लगाना कठिन नहीं। समाज में शान्ति की

स्थापना होगी । परस्पर संघर्ष का स्थान सहयोग ले लेगा। द्वेष का स्थान प्रीति लेने लगेगी। हम रामराज्य के निकट हो जायँगे।

(२)

विकास के पिछले प्रसंग में वर्णन की गई अवस्था को प्राप्त करने में भी हजारों वर्ष लग जायँ तो कोई विस्मय नहीं। यह मनुष्य का रूपान्तर है; धीरे धीरे ही हो सकता है। विकास की बीती हुई अवस्थाओं का स्मरण करें और उन में जितना समय लगा है उसका विचार करें तो हजारों वर्ष बहुत प्रतीत नहीं होते। परन्तु, वह अवस्था भी विकास की चरम सीमा प्रतीत नहीं होती।

समाधिचेतना की अभिव्यक्ति से नीची प्रवृत्तियों का बिलकुल शोधन नहीं हो जाता। वह बीज रूप में स्थित रहती हैं ही। दूसरी ओर इस चैतन्य के स्तर के ऊपर एक और स्तर है। वह पुरुषोत्तम का स्तर है। उसे हम महाचैतन्य कह सकते हैं। समाधिज्ञान भी उसमें प्रसुप्त सा

है। वह परमसत्ता की प्रतीति है। 'वह सब में और सब कुछ उसमें–' यह उस स्तर की सजीव प्रतीति है*। इसी को ग्रन्थों ने ज्ञान कह कर पुकारा है। वहां भेद की प्रतीति होते हुए भी नहीं होती। वह चेतना का स्तर अन्तिम स्तर प्रतीत होता है। इसके परे कुछ है अथवा नहीं है, हम विकास की वर्तमान सीढ़ी पर खड़े हुए कल्पना करने के अयोग्य हैं।

विकास की आगामी अवस्था में यह चेतना ही अमृत-चेतना हो जायगी। जिस प्रकार प्रसुप्त चेतना ही पशुओं की जागृत अवस्था है, परन्तु मनुष्य की वह सुप्तचेतना है, इसी प्रकार विकास का प्रत्येक आगामी कदम नूतन चेतना बना देगा, और पूर्व की चेतना भी हो जायगी। जैसे एक एक सीढी ऊपर चढ़ने से पिछली सीढ़ियां और नीची होती चली जाती हैं, ठीक वैसे ही यहां भी होता है।

इस चैतन्य के अवतरण से मनुष्य के समाधि चैतन्य में, मन में, प्राण में तथा शरीर में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। इन सब का परिशोधन तथा इस नूतन चैतन्य के सम्पर्क से उच्चीकरण–दिव्यीकरण भी। परिशोधन का अर्थ है

---

* खुले नयन मैं पीव निहारू, हँसि हँसि मुखडा देखूं—
—कबीर.

कि इस नूतन अवस्था के अयोग्य सभी वस्तुओं का प्रत्येक स्तर में अभाव हो जायगा । समाधिचैतन्य भी आगे से उज्ज्वल हो उठेगा। मानसिक क्षेत्र से कामक्रोध लोभादि का नितान्त अभाव हो जायगा और प्राण भी नूतन सामञ्जस्य को प्राप्त करेगा । रोग असम्भावना हो जायगी। तन के अणु इस नूतन परिशोधित प्राण के पूर्णरूपेण अनुहारी होंगे और अणु अणु इस महाचैतन्य के सम्पर्क को प्राप्त करेगा। परिशोधन तथा दिव्यीकरण का हम केवल मात्र समझ के लिये विभाग कर रहे हैं। इस स्तर की चेतना की अभिव्यक्ति के साथ उधर से महाशक्ति का उमड़ता हुआ प्रवाह दिव्य करता चला जाता है और उसके लिये परिशोधन आवश्यक है। यह कहना कि अब यह काम समाप्त हो गया, अब दूसरा काम आरम्भ होता है, असम्भव है।

विकास के आगामी क्रम में अतिचिरकाल के उपरान्त यह अवस्था प्रत्येक वर्तमान मनुष्य में प्रकट हो जायगी। यह वह ज्ञानमयी स्थिति है, जब व्यक्ति की दृष्टि अप्रत्याहत हो जाती है। यह वह स्थिति है, जिस में आनन्द ही केवल मात्र एक प्रतीति होती है; बाकी सभी विषम प्रतीतियाँ उसी के गर्भ में लुप्त होती प्रतीत होती हैं। यह वह

स्थिति है जिस में व्यक्ति का संकल्प सत्य हो जाता है। यह वह स्थिति है जिस में अहं क्षीण हो जाता है। व्यक्ति महासंकल्प के लिये एक पूर्ण यन्त्र बन जाता है; और अपने यन्त्रत्व का भी भान नहीं रहता। तब सहज स्वाभाविकी प्रयासशून्य लीला भीतर तथा बाहर होती हुई प्रतीत होती है।

और शरीर की अवस्था? साधना की प्रगति शरीर का शोधन करती चली जाती है। यदि पूर्ण स्वास्थ्य की कल्पना की जा सकती है तो वह इस अवस्था में ही सम्भव है। प्रकृति से पूर्ण लयताकी अवस्था ही पूर्ण स्वास्थ्य की अवस्था हो सकती है। वह सभी कारण जिनसे रोग सम्भव है, इन्द्रियों के आकर्षण तथा दुरुपयोग, व्यक्ति बहुत पीछे छोड आता है।

मृत्यु? और बुढ़ापा? हम ने विकास क्रम में इनकी आवश्यकता का वर्णन किया था। बुढ़ापा मृत्यु की तय्यारी है और इसके बीज हमारे शरीर में न होकर वास्तव में जातीय सुप्त–चेतना में समाये हुए हैं। बुढ़ापे में भी बननेवाली नई पेशियाँ तो युवा ही होती हैं। प्राण का प्रमाद–ही सारी कमजोरी का कारण होता है। विकास की इस उच्च अवस्था

में स्थूल अणुओं पर्यन्त सभी प्रकृति इतनी जग उठना स्वाभाविक ही है कि उस में नितान्त परिवर्तन सम्भव हो जाय। दूसरे विकास की इस अवस्था में पहुंचने पर घोर परिवर्तन की उपादेयता भी प्रायः न रहेगी, क्योंकि विकास के लिये ही तो वह आवश्यक है। अतः हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि उस अवस्था में रोग नहीं हैं, बुढापा भी नहीं। और मृत्यु, यदि है तो इच्छा-मृत्यु ही है। हम जब छोड़ना चाहें तो संकल्प से ही इस शरीर का परित्याग कर सकते हैं, सजग रहते हुए। सूक्ष्म लोकों की सभी गतियां उस अवस्था में मनुष्य के लिये स्पष्ट होंगी—मृत्यु एक प्रकार का रहस्य न होगा; वह मृत्यु भी न होगी।

जब मनुष्य की यह स्थिति होगी तो समाज किस प्रकार का होगा, यह अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे मनुष्य होते हैं; उनके अनुकूल ही समाज होता है। वह पूर्णरूपेण रामराज्य हो तो कोई विस्मय नहीं। हम उसी ओर बढ़े चले जा रहे हैं; परन्तु धीरे धीरे—अति धीरे से।

अब यदि हम युगातिक्रम पर दृष्टिपात करें तो एक और रहस्य खुल जाता है। मानवसृष्टि सत्य से द्वापर में, द्वापर से त्रेता में और त्रेता से कलि में प्रवेश करती

है; ऐसा कहा जाता है। और कलि के उपरान्त फिर सत्य में प्रवेश कहा है। पहला क्रम तो व्यष्टिचेतना के आत्मनिधान का क्रम है। धीरे धीरे चेतना अपने को ढकती चली जाती है, अथवा यों कहें कि अपने अभिव्यक्ति के क्षेत्र को स्थूलातिस्थूल करती चली जाती है। कलि युग पार्थिव युग है। इस में आकर ही चेतना स्थूल में निहित होती है।—अर्थात् मनुष्य को स्थूल शरीर की प्राप्ति होती है। इस से पूर्व त्रेता युग के मनुष्यों के शरीर और पृथिवी इस स्थूलता को लिये हुए थी, यह कहना कठिन है। और जब हम इसके परे और पीछे के युगों में जाते हैं तो मिलनेवाले वर्णनों से यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि वह सारी लीलायें हैं पृथिवी की हीं; परन्तु उस समय पृथिवी वर्तमान पृथिवी की तरह स्थूल न थी।

इस प्रकार से क्रमिक आत्मनिधान के उपरान्त चैतन्य विकसित होने लगता है—ऊर्ध्वारोहण आरम्भ करता है, और क्रमशः उन्हीं ऊँची चैतन्य की स्थितियों को लाभ करता है, जिन में से होते हुए आत्मनिधान हुआ था। परन्तु अब अन्तर इतना ही है कि चैतन्य का आरोहण होते हुए भी स्थूल का अस्तित्व बना रहता है और आरूढ़ होता हुआ

चैतन्य स्थूल को भी अपने ढांचे में ढालता चला जाता है। यह क्रम जाकर तब समाप्त होता है जब सूक्ष्मातिसूक्ष्म से स्थूल पृथिवी पर्यन्त, और व्यक्ति में समाधिचेतना के स्तर से स्थूल शरीर के अणुओं पर्यन्त महाचैतन्य के अभि-व्यक्ति के पूर्ण यन्त्र बन कर उसकी अभिव्यक्ति करने लगते हैं। यही उद्देश्य था आत्मनिधान का; इस विश्वयाग का यही प्रयोजन था। इस प्रकार से इसकी पूर्ति है।

हम आगे ही कह आये हैं कि हम और आगे की नहीं कह सकते। उस ऊंचे शिखर से और भी कोई ऊँचा शिखर है अथवा नहीं। यदि है तो उस से क्या दीखता है, हम कह नहीं सकते। 'है' को हम जानते नहीं, और 'नहीं है' का दावा करना अनुचित है।

आध्यात्मिक साधन इसी अवस्था को व्यक्ति में लाने का उपाय है। विकासानुक्रम से तो इस उच्चावस्था की अभि-व्यक्ति न जाने कितने समय में हो सकेगी। व्यक्ति अपने प्रयत्नद्वारा इसी क्रम को थोड़े समय में पूरा कर डालने में समर्थ हो सकता है, यही आध्यात्मिक साधन का मौलिक सिद्धान्त है। परन्तु,

ऐ पथगामी !
पग धीरे धीरे धरना ।
विषम भूमि, अपरिचित मग में,
सोच समझ कर चलना !
ऊंचे में है,
और ऊंचे से ऊंचे में है ।
दूर दूर अति दूर, लक्ष्य तो दूरी में, है,
पर न मचलना, व्याकुल होना,
धीरज धर, धीरे से चलना !
प्यारे, पहचान,
जीवन के धन को
आगे ले जानेवाले अमृतपन को ।
परा शक्ति के अवलम्बन को
मग में न अटकना ।
ऐ पथगामी !
पग धीरे धीरे धरना ।

———

परिशिष्ट

: १७ :

पुनर्जन्म

(१)

अध्यात्म विकास का विवेचन करने में हमने पुनर्जन्म को सिद्ध सत्य मान लिया है। परन्तु इस विषय में लोगों के मतों की विभिन्नता बहुत है। कई लोग तो पुनर्जन्म की वास्तविकता से इनकार करते हैं; और जो मानते भी हैं उनकी धारणाएँ पुनर्जन्म के बारे में विचित्र हैं। अतः इस विषय का विचार करना आवश्यक जान पडता है।

यदि व्यक्ति मरणोपरान्त रहता है—उसका अस्तित्व किसी प्रकार से बना रहता है, तभी तो पुनर्जन्म की सम्भावना है। अन्यथा पुनर्जन्म का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। मरणोपरान्त व्यक्ति का अस्तित्व रहता है, यद्यपि वह स्थूल नेत्रों से देखा नहीं जा सकता। जैसे हम कई दूसरी वस्तुओं को आंखों से नहीं देख सकते, ऐसे ही उसको भी नहीं देख सकते। उनके द्वारा पैदा होनेवाले प्रभावों को, घटनाओं को देख कर ही उनके अस्तित्व का अनुमान लगाया जाता है। परन्तु इतना ही नहीं।

मरे हुए व्यक्ति से वार्तालाप सम्भव है। उनसे भेट हो सकती है। वह अनेक व्यक्तियों का अनुभव है। इस अनुभव को वैज्ञानिक रूप देने का यत्न भी किया गया है और सतर्क रह कर प्रयोग भी किये गये हैं। इस विषय में आज काफी साहित्य प्राप्य हैं। मरे हुए बन्धुओं से भेट की सम्भावना से लालायित हो कर लोगों ने प्रायः इस क्षेत्र में प्रवेश किया है।

इस विषय पर आज इतना साहित्य हो गया है कि हम उसे सहज में भ्रम कह कर ठुकरा नहीं सकते। इस अस्तित्व को मान लेने से विज्ञानवेत्ताओं की धारणाओं में खलबली मच

जाती है। इस में सन्देह नहीं; परन्तु धारणाओं को सत्य का अनुकरण करना है। सत्य को धारणाओं का अनुसरण नहीं करना। सत्य के अन्वेषक को तो हमेशा सत्य को ग्रहण करने के लिये उद्यत रहना चाहिए।

स्पिरिट फोटाग्राफी में भी सफलता प्राप्त की गई है। और, जो आन्तरिक क्षेत्र में विकास प्राप्त करते हैं, सूक्ष्म लोक में जग जाते हैं, वे आमने सामने भी मरे हुए लोगों से भेंट कर सकते हैं।

इस बात को मान लेने से कई प्रश्न उत्पन्न होंगे। परन्तु यदि हम इसको सत्य मान लेते हैं तो हमें उन प्रश्नों का हल ढूंढना चाहिए, न कि उन कठिनाइयों से बचने के लिये सत्य से आंखें मूंद लेना।

इस मरणोपरान्त अवस्थाविषयक अनुभूतियों में माध्यमों द्वारा दम्भ की भी सम्भावना है, कभी कभी हुआ भी है, परन्तु उसकी आड़ लेकर सत्य से इनकार करना तो अपनी कायरता को छिपाना मात्र है।

इस प्रकार से हमें मरणोपरान्त व्यक्ति के अस्तित्व को मानने के लिये उद्यत रहना होगा। अब हम पुनर्जन्म के प्रश्न पर आते हैं।

इस विषय में पहले हम प्रमाण ढूंढेंगे और बाकी विचार बाद में किया जायगा ।

कई एक किस्से सुननेमें आते हैं, कभी कभी समाचार पत्रों में प्रकाशित होते हैं कि एक बालक ने अपने पिछले जन्म की स्थिति का वर्णन किया और वह सत्य पाया गया । देहली की शान्ति देवी वाली घटना तो बहुत प्रसिद्ध हो गई है। उस प्रकार की अनेक घटनाओं कई संशयवान् लोगों ने पूरी जागरूकता से उनकी प्रामाणिकता का परिक्षण भी किया है ।

पातञ्जल योग दर्शन में संस्कार संयम से पूर्वजन्मज्ञान का बोध होता है, ऐसा कहा है। योगी अपने पूर्वजन्म को भली भान्ति जान सकता है। यह अनुभवगम्य सत्य है । पूर्व जन्म के अभाव में ऐसी सम्भावना नहीं रहती ।

इन दो प्रकार के अनुभवों के आधार पर हमें पुनर्जन्म के अस्तित्व को मानने के लिये बाधित होना पड़ता है ।

(२)

पुनर्जन्म का वास्तव में क्या तात्पर्य है, यह समझने का हमें यत्न करना है।

जो वस्तु अविच्छिन्न बनी रहे, उसी को पुनर्जन्म कहा जा सकता है। मनुष्य का देह नष्ट हो जाता है। मरने पर या तो अग्निद्वारा भस्म किया जाता है, या दबाया जाता है और कीटाणु भस्म कर डालते हैं; अथवा जानवर खा डालते हैं। शरीर फिर से प्रकट हो जाने की सम्भावना नहीं।

शरीर से सूक्ष्म तथा अधिक स्थायी प्राण है जिसकेद्वारा शरीर सजीव था, चलता फिरता तथा आन्तरिक और बाह्य क्रियाओं को करता था। स्थूल शरीर इस प्राणमय का यन्त्र मात्र था, जैसे बिजली के प्रकट होने का कोई यन्त्र रहता है—पंखा, हीटर, मोटर इत्यादि। यह प्राणमय शरीर स्थूल शरीर के उपरान्त बना रहता है। वास्तव में इसी के निकल जाने से शरीर मरता है। परन्तु अवसर आने पर प्राणमय भी विच्छिन्न हो जाता है। जैसे स्थूल के अणु स्थूल पृथिवी आदि में मिल गये थे, इसी प्रकारसे सूक्ष्म—प्राणमय अणु भी प्राणमय स्तर में मिल जाते हैं। इस लिये इसका भी पुनर्जन्म नहीं हो सकता।

प्राणमय का अवलम्बन प्राणमय से सूक्ष्म मनोमय है। प्राण-मय के विछिन्न हो जाने से मनोमय विच्छिन्न नहीं होता। वास्तव में जब मनोमय प्राणमय से अलग हो जाता है, तभी प्राणमय का

विच्छेद आरम्भ होता है। मनोमय स्तर वह है जिस में भाव की तरंगें और संकल्प विकल्पनात्मक स्पन्दन सम्भव होते हैं।

यह मनोमय शरीर भी सदा रहनेवाला नहीं है। इस से अधिक सूक्ष्म तथा इस का आधार विज्ञानमय है। यह वह स्तर है जिस में आत्मस्फुरण, तथा सूक्ष्म दर्शनादि सम्भव हैं जो सविकल्प समाधि की अनुभूति हैं। समाधिचेतना का यहीं स्तर है। जब विज्ञानमय-कोष मनोमय से अलग हो जाता है तो मनोमय अपनी आधारभूत सत्ता को खोकर विछिन्न हो जाता है। मनोमय के अणु विज्ञानमय स्तर में मिल जाते हैं।

परन्तु विज्ञानमय स्तर से परे भी एक स्तर है जिसको आनन्दमय कहा जाता है। यह विज्ञानमय का अवलम्बन है और इसके अलग हो जाने से विज्ञानमय के अणु भी आनन्दमय में मिल जाते हैं और विज्ञानमय कोष विछिन्न हो जाता है। इस आनन्दमय का विच्छेद असम्भव है। यही सारी शक्ति का आदिस्रोत है। यह मनुष्यका आत्मा है। यही अविच्छेद्य सत्ता है।

ग्रामोफोन के रिकार्ड भरने में बोलनेवाले की शब्द तरंग लुप्त हो जाती है, परन्तु उसका सूक्ष्म स्पन्दन अपने संस्कार

रिकार्ड पर छोड़ जाता है। इसी प्रकार से विच्छिन्न होने-वाला कोष अपनी अनुभूति तथा संस्कार को अपने से सूक्ष्म कोष में छोड़ जाता है। इस प्रकार आत्मा में सारे संस्कार का संचय होता है।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यह अनुभवमय संस्कार अनुभूति के साथ ही साथ सभी स्तरों पर—आत्मा से ले कर स्थूलशरीर पर्यन्त अंकित होते चले जाते हैं। प्रत्येक नष्ट होनेवाला कोष अपनी सम्भावना मात्र से अपने से सूक्ष्म कोष में पहुंचा देता है।

मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति इस प्रकार से अपने कोषों को धीरे धीरे उतारता चला जाता है। नये जन्म को ग्रहण करने के लिये अवसर आने पर फिर अभिव्यक्ति का क्रम आरम्भ होता है।

आनन्दमय अपनी शक्ति को फिर अभिव्यक्ति के क्षेत्र में लाना चाहता है, अनुभव के लिये। अतः विकासोपयोगी तथा पूर्वविकासानुकूल देह का निर्माण करना आवश्यक होगा। यह क्रमशः ही सम्भव है।

आनन्दमय की शक्ति विज्ञानमय स्तर में प्रविष्ट होती है। नूतन अभिव्यक्ति के अनुकूल (जो सारे पुराने विकास की

सम्भावनाओं से सीमित है) विज्ञान–मय कोप का निर्माण हो जाता है ।

आनन्द-मय की शक्ति ही अपने विशेप स्पन्दन के द्वारा अपने अनुकूल अणुओं का आकर्पण कर, विज्ञानमय कोष का निर्माण कर देती है । यह पहला जन्म है आनन्दमय का, विज्ञानमय में पुनर्जन्म !

इसी प्रकार से यह नूतन विज्ञानमय मनोमय में जन्म लेता है और अपने अनुकूल मनोमय कोप का निर्माण कर लेता है । यह विज्ञानमय का पुनर्जन्म है मनोमय में । इसी क्रम से प्राणमय की और अन्त में अन्नमय अथवा स्थूल शरीर की अभिव्यक्ति होती है । स्थूल शरीर की उत्पत्ति के लिये स्थूल शरीरधारी नारी पुरुप के सहयोग की आवश्यकता रहती है। यह पुनर्जन्म है अन्नमय में, प्रायः इसको हीं पुनर्जन्म कहा जाता है ।

जो ऊपर वर्णन किया गया है उस से यह स्पष्ट है कि इस फिर पैदा हुए मनुष्य का मन भी नया है, प्राण भी और स्थूल शरीर भी । उनका ढांचा ही नया है । प्रायः मनुष्य इन्हीं से पहचाना जाता है । अतः वह इनको देख

कर नहीं पहचाना जा सकता है। यदि स्थूल स्तर में एक व्यक्ति अपने पिछले जन्म के व्यक्ति के सामने आ जाय तो पहचानना असम्भव हो।

इन में एक रहनेवाली तो वह चेतन—शक्ति है जो आनन्द-मय है। उसी की शक्ति वास्तव में इन विभिन्न स्तरों के कोपों में प्रकट होती है। अतः उसके स्तर पर व्यक्ति को पहचाना जा सकता है।

व्यक्ति अपने कपड़े बदला करता है। जिसने कपड़ों की ही पहचान रखी हो, वह पहचान ने में चूक जाता है। व्यक्ति की आकृति में भी परिवर्तन होता है, अतः आकृति से भी भूल हो जाती है। बचपन का देखा हुआ बुढ़ापे में पहचानना असम्भव हो जाता है। व्यक्ति की आवाज़ प्रायः कम बदलती है, अतः आवाज़ से पहचानने में आसानी हो सकती है। परन्तु आवाज़ भी बदल जाय, तो बिना बताये पहचानना असम्भव होता है। तब स्मृति ही सहायक हो सकती है, और यदि वह भी लुप्त हो जाय तो पहचानना एकदम असम्भव होगा। हम किसी स्थिर निशान पर न पहुंच पायँगे। ऐसा ही जन्मान्तर का खेल है।

हमने देखा दिमाग़ बदल जाता है और मन भी, फिर याद कैसे रह सकती है पुराने जन्म की? यह संस्कार तो

आत्मा के स्तर में निहित हैं—विज्ञानमय में प्रस्फुटित हैं, अतः वहीं पर इनको पकड़ा जा सकता है। * इसीलिये समाधिज्ञान द्वारा यह लभ्य है।

कुछ लोगों को पिछले जन्म की स्मृति बनी रहती है; इसका कारण? साधारणतया यह तभी सम्भव है जब मनोमय कोष का विच्छेदन हो पाया हो और वहीं से व्यक्ति नये शरीर में प्रवेश कर गया हो। मनोमय के न बदलने के कारण ही यह सम्भव है और तभी पहचाने जाना भी सम्भव है। अत्यन्त प्रबल मोह अथवा भोग की उत्कट इच्छा ही ऐसे पुनर्जन्म का कारण होती है।

पुनर्जन्म चेतन-शक्ति के विकास के लिये अनिवार्य आवश्यकता है। एक जन्म के अनुभवों का आलोडन सारे पिछले अनुभवों से होता है और फिर एक नये व्यक्तित्वका निर्माण होता है। यह अनुभव का अभूतपूर्व यन्त्र है यद्यपि पिछले अनुभवों के आधार पर ही बना है। इस प्रकार से विभिन्न व्यक्तियों द्वारा मनुष्य विविध अनुभवों को प्राप्त करता हुआ विकासपथ पर आगे बढ़ता चला जाता है।

---

* विज्ञानमय का परिवर्तन एक जन्म से दूसरे जन्म में साधारण व्यक्ति में बहुत थोड़ा रहता है।

: १८ :

पुनर्जन्म तथा कर्मवाद

प्रायः यह सुनने में आता है कि पिछले जन्म की स्मृति का अभाव तो व्यक्ति पर किया गया घोर अन्याय है। पिछले जन्म का यदि व्यक्ति को बोध होता वह अपनी भूलों को आगे के लिये सुधार लेता। यदि वह जानता कि मैं ने अमुक पाप किया था जिसका फल मुझे यह मिल रहा है, तो आगे से वह उस पाप से अपने को बचाने का यत्न करता। यह तो एक दोषी को दोष बताये बिना दण्ड देने का मामला है। कोई लोग अधीर होकर बोल उठते हैं 'या तो पुनर्जन्म झूठ है, या भगवान ही झूठ है।'

हम ने यह देख लिया है कि व्यक्ति का गतजन्मविषयक बोध लुप्त कैसे हो जाता है। इस को जागृत भी किया जा सकता है, इस में सन्देह नहीं। इस ज्ञान के लुप्त होने का प्रभाव क्या होता है ? यह हमें देखना होगा।

एकदम नये दृष्टिकोण से अनुभव प्राप्त करना तभी सम्भव है जब व्यक्ति पूर्वज्ञान को खो दे। अन्यथा पुरातन अनुभव तथा दृष्टिकोण हमेशा पीछा करेंगे। वास्तव में नूतन व्यक्तित्व का निर्माण भी तब ही सम्भव है। एक शरीर के विनाश तथा नूतन शरीर के निर्माण की आवश्यकता ही एकदम नूतन व्यक्तित्व के निर्माण के लिये है। यदि उसी व्यक्तित्व को बनाये रखने से काम चल सकता तो केवलमात्र स्थूल शरीर को अतिचिरस्थायी बना देने से यह सम्भव हो सकता था। नये सिरे से शरीर के निर्माण के प्रयास से दैवी शक्तियां बच जातीं; परन्तु, वास्तव में पुराने संस्कारों के आलोडन द्वारा बहुमुख विकास की अग्रगति के लिये एकदम नूतन व्यक्तित्व की आवश्यकता है। और इसी लिये पुरानी स्मृति का ध्वंस भी आवश्यक है।

पूर्व जन्म की स्मृति के बने रहने का परिणाम भी बेढब होता है। इस वर्तमान जीवन की आसक्तियां ही व्यक्ति

को व्याकुल किये डालती है, यदि इस के साथ पिछले अनेक जन्मों की स्मृतियां भी लग जाएँ, तो जीवन निकम्मा भार ही हो जायगा।

दूसरे, मनुष्य की स्मरणशक्ति इस जीवन के विषय में भी सीमित ही है; पर-जीवन विषयक स्मृति तो और भी सीमित होनी स्वाभाविक है । यदि इस शरीर के शैशव के विषय में हमे बोध नहीं तो पर-जीवन का बोध तो असम्भव है; और यह है व्यक्ति के हित में । बुद्धि का काम स्मरण करना ही नहीं है। विचार का सामर्थ्य ही बुद्धि की विशेषता है। स्मृति के अतिस्थायी होने पर विचार सामर्थ्य के विकास में अड़चन होना स्वाभाविक ही है। विस्मृति नूतन निर्माण की जन्मदात्री है। विनाश ही नवोत्पत्ति का हेतु होता है। विचार में भी पुरातन के ध्वंस के आधार पर ही नूतन निर्माण सम्भव है।

अतः, यह मनुष्य के हित के लिये ही है कि पिछले जन्मों की स्मृनि का लोप हो जाता है।

हिन्दुशास्त्र प्रायः बतलाते हैं कि अमुक पाप का फल अमुक दुःख है। प्रायः लोग सोचने लगते हैं कि इस जन्म

११...

के दुःखों तथा सुखों का निर्णय करनेवाले, हमारे पर—जन्म-कृत कर्म ही होते हैं। इसी विचारधारा को प्रमाणित मान कर यह अड़चन पेश आती है कि उस जन्म के पापको जाने बिना उसके लिये दण्ड भोगना तो व्यर्थ सा है और ऐसा दण्ड देना मूर्खता।

व्यक्ति का जीवन एक प्रवाह है। एक नदी में एक स्थल का प्रवाह उस से नीचेवाले स्थल के प्रवाह का निर्णायक होता है। नदी के वेग को, उसके तल की सतह को, पाट आदि को जान कर हम आगे के स्थल में नदी के प्रवाह के वेग का अनुमान कर सकते हैं। उस नदी में बहनेवाली विशेष प्रबल धाराओं तथा सामने आनेवाली अड़चनों को जान कर नदी के भविष्य प्रवाह का विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ठीक यही अवस्था मानुषी जीवन की है। केवलमात्र इतना अन्तर है कि यह प्रवाह चेतन है तथा चुनाव की योग्यता रखता है। शरीर का परिवर्तन सभी धाराओं का आलोडन कर, उसी में विवेक कर, एक नूतन रूपवाले प्रवाह का उद्भव है। कुछ प्रवाह धाराएँ अभिव्यक्ति के क्षेत्र से हटा ली जाती हैं और कुछ नूतन प्रगति चेतना के द्वारा प्रदान की जाती है। यह व्यक्ति का पुनर्जन्म होता हैं।

इस नये जीवन के विषय में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति जो कुछ है, जहां पर है, वह अपने द्वारा ही प्रेरित शक्तियों का परिणाम है। विकास की सहायिका सत्ताओं ने उसे योग दिया है। परन्तु इस विषय में निर्णायक वह स्वयं ही रहा है और उसका आज तक का अभिव्यक्ति के क्षेत्र का अनुभव। यह कहना कि उसके अमुक कर्म का अमुक फल है। यह असम्भव ही दीखता है। वास्तव में इस सृष्टि में कुछ भी अलग नहीं है, और कर्म के विषय में इस प्रकार से अलग कर के चर्चा करनी तो असम्भव ही। शास्त्रकारों के वचन इस विषय में किसी भी प्रयोजन को लेकर हों, परन्तु वास्तविकता तो वैसी ही समझमें आती है, जैसा ऊपर कहा गया है।

बुरी प्रवृत्तियां व्यक्ति के विकास की बाधिका हैं, इस में सन्देह नहीं; परन्तु विकास की एक स्थिति तक वह सहायिका भी थीं ही, यह हम ने देखा है। दुःख विकास-कारिणी शक्ति में प्रतिरोध से होता है, परन्तु उसका भी स्थान है विकास में, और सुख का भी। अतः दण्डरूप है, पाप का परिणाम है ऐसा सोचना ही नादानी है। प्रतिरोध से प्रतिक्रिया होती है और प्रतिक्रिया व्यक्ति के विकास की गति

को तीव्र कर देती है। जो एक के लिये पाप है वह दूसरे के लिये पुण्य भी हो सकता है। अतः कर्म के वाह्य स्वरूप से निर्णय करना असम्भव है।

व्यक्ति को क्या करना है इसका निर्णय तो उसे स्वयं अपनी समझ से करना है, परलोक के ख्याल से नहीं करना, अपने विकास तथा अपनी सामाजिक स्थिति के विचार से अपनी बुद्धि के द्वारा करना है। इस विषय में बनी बनाई किसी लाल किताव का आश्रय लेने का प्रयत्न ही बुद्धि के विकास को रोक देगा।

'कर्म' का विचार करने में इसी फलवाद की चर्चा ने परलोक को इतना महत्त्व दिया है। प्रायः यह समझा जाता है कि यहां सुख का निर्णय परलोक ही करता है। इस जन्म के कर्म तो अगले जन्म के लिये हैं। वास्तव में इस प्रकार के कोई खाने प्रकृति में नहीं। इस जन्म के सुख दुःख प्रायः हमारी मानसिक, वाणीमय तथा शारीरिक क्रियाओं के नतीजे होते हैं। हम अपनी मनोवृत्तियों के द्वारा प्रायः अपने लिये दुःख तथा सुख पैदा करते हैं। यदि यह कहा जाय कि अधिकांश सुख दुःख का भार व्यक्ति की इस जन्म की क्रिया पर ही है, तो अतिशयोक्ति न होगी।

इस में सन्देह नहीं कि हम जो कुछ हैं—जिस पूंजी के साथ हम ने प्रवेश किया था इस संसार में, उस का आधार पुराने कर्मों में ही है, परन्तु उस पर हमारी अपनी—आत्मा की चुनाव की छाप है। इस में सन्देह नहीं कि उसी आधार पर हम आगे क्रिया करते हैं, परन्तु यह भी सुनिश्चित ही है कि हमें क्रिया करने में एक बहुत हद तक स्वातन्त्र्य है। हम अपनी विचार की गति के द्वारा अपने को—उस आधार को—भी बदल सकते हैं; अपने कर्मों द्वारा अपनी पुरानी प्रवृत्ति का भी परिवर्तन कर सकते हैं।

कर्मवाद मनुष्य को कर्मस्वातंत्र्य का पाठ पढ़ाता है, उज्ज्वल भविष्य की आशा दिलाता है। उसे अपना भार अपने कन्धों पर उठाना सिखाता है। यह वीरता का पाठ है। तथा प्रयत्नशीलता का। कायरता की तथा निकम्मेपन की आड़ नहीं है। इसे ठीक समझने का यत्न करना चाहिये।

: १९ :

कर्मवाद

कर्मवाद की पेचीदिगियों की कोई सीमा नहीं। हम इस पर थोड़ा और विचार करेंगे।

'अमुक व्यक्ति बड़ा भला है। सच्चा है, दयावान् है। कभी गाली नहीं देता और किसी को ठगता नहीं परन्तु बेचारा दुखी रहता है। बीमार है, दरिद्री है।' ऐसा सुनने में प्रायः आता है। और कहा जाता है, 'न जाने इसने पिछले जन्म में कितने पाप कर रखे होंगे। उन्हीं का फल भोग रहा है। आगामी जन्म में अब के सत्कर्मों का फल

भोगेगा।' क्या सचमुच सच्चे होने का फल यह होना चाहिये कि व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा हो और उसे धन की प्राप्ति हो ? ठीक इसी प्रकार की बातें हमें मनुस्मृति के एक अध्याय में मिलती भी हैं कि अमुक काम करने से व्यक्ति अमुक फल को प्राप्त करता है। हम स्वतन्त्र रूप से इस पर विचार करनेका यत्न करेंगे।

प्रत्येक कर्म एक विश्लिष्ट स्पन्दन है। कुछ शारीरिक क्रिया होती है, कुछ मनोमय स्पन्दन, जिस में विचार तथा भान रहता है, और कुछ आत्मिक संकल्प शक्ति का विलास इस कर्मरूप स्पन्दन का तात्कालिक प्रभाव स्पन्दित होनेवाले माध्यमों पर, व्यक्ति के विभिन्न स्तरों पर पड़ता है। यही कर्म का प्रबल प्रभाव है, इस से हम अच्छे अथवा बुरे होते हैं, स्पन्दनों के अनुसार। यह कर्मफल हमें तत्काल मिलता है। इसके अतिरिक्त कर्मरूप स्पन्दन बाह्य जगत् में एक तरंग पैदा करता है। यह सम्भावना होती है एक नूतन वास्तविकता की। हमारी क्रिया का जो सामुहिक प्रभाव विश्व पर पड़ा है उसकी प्रतिक्रिया है। इसी को साधारण भाषा में कर्मफल कहते हैं। इस प्रतिक्रिया का स्वरूप क्या होता है, यह विचारणीय है।

हम यह जानते हैं कि सभी सत्ता के स्तर परस्पर सम्बद्ध हैं, परन्तु विशेष प्रभाव एक स्तर का उसी स्तर में ही सम्भव है। मनोमय स्पन्दन सीधे मनोमय को ही स्पन्दित करते हैं, उनका गौण प्रभाव प्राणमय पर पड़ता है। अतः प्रतिक्रिया भी कर्म की तरह पेचीदा ही होनी स्वाभाविक है।

हम जानते हैं कि हमारे हिंसा के भाव दूसरों में हमारे प्रति हिंसा जागृत करते हैं, प्रीति के भाव प्रीति। हम दूसरे से सच्चे होते हैं जो यह दूसरों को हमारे प्रति सच्चे होने के लिये प्रेरणा है। हम देते हैं तो दूसरों में भी वैसा ही व्यवहार करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। यही कर्म-फल का दूसरा स्वरूप है। इसके द्वारा हमारी बाह्य परिस्थिति का निर्माण होता है।

हमारा कर्म एक सम्भावना है जो वास्तविकता के रूप में प्रकट होगी। परन्तु कब? जब उचित परिस्थिति उसे मिलेगी। बीज पौदे की सम्भावना है, परन्तु वास्तविकता तभी होती है जब उचित ऋतु, भूमि तथा जल मिलता है। इसी प्रकार से कई कर्मों का बाह्य फल व्यक्ति को तत्काल मिल जाता है और कई कर्मों के फल के लिये व्यक्ति को प्रतीक्षा करनी होती है।

परन्तु यह न भूलना चाहिये कि कर्म का फल तदनुकूल ही होगा। दया का फल दूसरों की दया को प्राप्त करना होगा। देने का फल प्राप्ति होगा। अत्याचार का फल अत्याचार और सम्मान का फल सम्मान। दुःख देना अपने लिये दुःख सचित करना होगा। अपहरण का फल अपहरण होगा। ऐसा ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

पुरुपार्थ एक बडी शक्ति है। यह कर्मफल की सम्भावना को वास्तविकता में परिवर्तित करने के लिये भी आवश्यक है और नूतन सम्भावनाएं भी पैदा कर सकती है। अतः हमारे वर्तमान जन्म की अनुभूतियां पेचीदा हैं। बिना पुरुपार्थ के, पुराने कर्मफल की सम्भावनाएं भी प्रकट नहीं हो सकती और पुरुपार्थ द्वारा हम नई सम्भावनाएं भी पैदा करते हैं, जिसका फल तत्काल मिलना भी सम्भव है। केवल पुरुपार्थ तत्काल फलित हो ही जाता है, यह भी नहीं कहा जा सकता; और इसके विपरीत भाग्य ही सब कुछ है, यह भी नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति के लिये पुरुपार्थ सतत वरणीय ही है। जो पुरुपार्थ नहीं करता और अपने भाग्य का कोसता है, वह मूर्ख ही है, यह स्पष्ट है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उस से विभिन्न व्यक्तियों का एक व्यक्ति विशेष के प्रति जो व्यवहार होता है, उसकी समझ भी आ सकती है। एक मित्रता पुरानी—पिछले किसी—जन्म की मित्रता का अथवा की हुई भलाई का फल हो सकती है और इस जन्म के व्यवहार का फल भी। वर्तमान व्यवहार से हम मित्रता को शत्रुता में परिवर्तित कर सकते हैं और शत्रुता को मित्रता में भी। हमारे अपने विचार ही इस विषय में प्रधान निर्णायक होंगे।

अब हमें शरीर और शरीर रोगों के विषय में विचार करना बाकी है। शरीर की प्राप्ति का निर्णय हमारे गत-जन्मों का कर्मफल तथा विकास की आवश्यकता का परिणाम है। जिस परिस्थिति में हमे उचित प्रकार का शरीर मिल सकता है उसी परिस्थिति के लिये हमे इन्तजार भी कई बार करनी पड़ती है। माता पिता शरीर का आरम्भ मात्र करते हैं। उस शरीर को हमारे निजी व्यक्तित्व की छाप ही डालती है और उसको विशेष प्रकार का कर देती है। शारीरिक अंगहीनता किसी शारीरिक अत्याचार का फल ही हो सकता है, अथवा उस अंग के महान् दुरुपयोग का परिणाम। प्रकृति सबक सिखाने के लिये कभी

कभी हमारे उन यंत्रों को छीन लेती है। जिन का हम विशेष दुरुपयोग करते हैं। विकास में सौम्यता लाने के लिये यह आवश्यक है।

अंगहीनता जन्म से भी हो सकती है और बाद में भी। परन्तु इस में हमे पुरातन कर्म का ही फल दीखता है। इस कर्मफल की प्राप्ति के लिये भी व्यक्ति का ही अपना पुरुषार्थ आवश्यक होता है। वही निमित्त कहलाता है। दैवी शक्तियां इस कर्मविधान के हिसाब को साफ रखने का प्रयत्न करती हैं और सफल भी होता हैं। जविन की दुर्घटनाओं–आकस्मिक घटनाओं–के सूत्र हमें पुरातन जन्मो में ही ढूंढने पड़ेंगे।

रोग ! यह भी इसी प्रकार की संश्लिष्ट समस्या है। माता पिता की शारीरिक स्थिति, विभिन्न अंगों का सामर्थ्य, जीवनी शक्ति, जीवन क्रम, खान पान, निवासस्थान आदि कई बातें मननीय हैं। ऐहिक जीवन क्रम को ठीक रखने से कई रोगों से व्यक्ति बच सकता है। रोगों के लिये तो सामान्यतः व्यक्ति को अपनी गलतियों को ही ढूंढना होगा। वैसे तो सभी क्षेत्रों में ही व्यक्ति को अपनी गलती को ढूंढना और सुधारना होगा। जो व्यक्ति रोग के लिये पुराने संस्कार को

ही जिम्मेदार ठहराता है, वह यह भूल जाता है कि वर्तमान गलती के बिना वह सम्भावना फलीभूत न हो सकती थी।

इस विषय में इतना कह देना आवश्यक होगा कि व्यक्ति के सारे के सारे कर्मफल, जिन को वह किसी जन्म के लिये ले कर आया था, उसी जन्म में भोगे जायँगे यह अनिवार्य नहीं; और न ही यह अनिवार्य है कि वह नूतन संस्कारों का आवाहन न कर सके *। और पुरुषार्थ के द्वारा नूतन कर्मफल पैदा किया ही जा सकता है, अतः पुरुषार्थ के लिये द्वार खुला हुआ है। इसके बिना न पिछला ही फल भोगा जा सकता है, न विकास की प्रगति ही सम्भव है। स्पष्टतः कर्मवाद पुरुषार्थ का पोषक है, इसका बाधक कदापि नहीं, हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं

---

* अतः भाग्य परिवर्तन सम्भव है।



: २० :

तीन गुण

भगवान् की शक्ति ही प्रकृति है। वही परमसत्ता सृष्टि रचना के भाव में प्रकृति है। सभी गतियां और उनसे होने वाली अभिव्यक्तियां और विभूतियां उसी से होती हैं। इन को तीन भागोंमें विभक्त किया गया है। इन को तीन गुण-प्रकृति के विशेषण—कहा जाता है। प्रलय की अवस्था में गुणों का साम्य हो जाता है अर्थात् वह परस्पर एक दूसरे के द्वारा इस प्रकार से सन्तुलित होते हैं कि कोई भी प्रकट नहीं हो पाता; अतः सृष्टि का लय हो जाता है। ऐसी धारणा

सांख्य शास्त्र में चली आती है। इसी के अनुसार पदार्थों को सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक कहा जाता है, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, और इनके धर्मों की भी। व्यक्तियों को भी तीन भागोंमें में बांटा जाता है।

यह प्रकृति के तीन मौलिक धर्म हैं—स्वभाव हैं, यदि हम ऐसा कहें तो उचित होगा। परिवर्तन का विरोध—इनर्शिया—तमस् है। परिवर्तन की ओर प्रवृत्ति—मोमेन्टम की योग्यता—रजस और सन्तुलन तथा सामंजस्य स्थापन करने की प्रवृत्ति सत्त्व है। यह प्रकृति के ही तीनों धम हैं, परन्तु इनकी अभिव्यक्ति भिन्न भिन्न मात्रा में, भिन्न भिन्न गतियों तथा अभिव्यक्तियों में होती है। प्रधानता के अनुसार वस्तुओं को सात्त्विक, राजसिक अथवा तामसिक कहा जाता है।

यह न भूलना चाहिये कि प्रकृति—शक्ति एक अविभाज्य-गति है। यह सत्त्व रजस् तथा तमस् का विभेद हमारी बुद्धि की रचना है, जिसके द्वारा हम प्रकृत्ति की क्रिया तथा उसके विकास क्रमानुगत प्रकट होनेवाली वस्तुओं को भली प्रकार से समझ पावें। इनको अलग नहीं किया जा सकता।

मुझे एक उदाहरण स्मरण हो रहा है। तारवाले बाजों के तार एक ही समय में कई एक स्वरों को उत्पन्न करते हैं। वह

तार सारे का सारा एकदम स्पन्दन करता है, और साथ ही साथ, दो और चार अंशों में विभाजित होकर भी। परिणाम होता है कि प्रधान स्वर के साथ गौण स्वरों की भी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार से प्रकृति की गति समझनी चाहिये।

सत्त्व, रजस् तथा तमस् को एक और तरह भी समझने का यत्न किया जाता है। तमस् स्थूलता, जडता, गतिशून्यता (अर्थात् परिवर्तनशून्यता) का द्योतक है। रजस् गति का द्योतक है। अतः, तमस् से सूक्ष्मता इस को लक्षित करती है। सत्ता इतने वेग से गतिशील है कि उसकी गति पहचानी नहीं जाती। वह गति भी एक स्थिरता प्रतीत होती है। उस गति से संतुलन बना रहता है। अतः, सत्त्व अतिसूक्ष्म है। इस प्रकार से सूक्ष्मता का तारतम्य भी तीनों गुणों को लक्षित करता है।

'चलं च गुणवृत्तम्'। योगदर्शन का कहना है कि गुण चलायमान हैं, अर्थात्, इन में स्थिरता नहीं। दूसरे शब्दों में प्रकृति सतत परिवर्तशील है। यह परिवर्तन सत्त्व रजस् तथा तमस् के पारस्परिक सन्तुलन के अन्तर से ही सम्भव है। अतः गुणों का धर्म ही चंचलता है। यह गुण मदारी के

गेंद हैं जो हमेशा चलते रहते हैं, परन्तु उसके काबू से कभी बाहर नहीं हो पाते ।

प्रायः 'गुण' शब्द के प्रयोग से व्यक्ति भ्रम में पड़ जाता है। गुण विशेषण को कहते हैं। प्रकृति के यह विशेषण हैं। उसकी क्रिया को लक्षित करने के साधन। सहज गुण वस्तुसे अलग नहीं किया जा सकता। वह उसकी अभिव्यक्ति ही होती है। अग्नि का गुण ताप है और सूर्य का प्रकाश। इन गुणों को अलग करने से अग्नि अग्नित्व से रहित हो जाती है और सूर्य सूर्य नहीं रहता। अतः अग्नि अलग है और ताप अलग है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार से प्रकृत्ति से गुणों को अलग नहीं किया जा सकता। गुणों के बिना प्रकृति प्रकृति नहीं रहती।



हमारी आगामी

आध्यात्मिक सा

खंड पहला

और दूसरा